भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत

श्री चन्द्रावली

नाटिका

सम्पादक

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०

हिन्दी विभाग, यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

भूमिका

द्वितीय खण्ड

श्रीचन्द्रावली नाटिका (मूल पाठ)

तृतीय खण्ड

टिप्पणी

भूमिका

भारत में नाट्य-कला की उत्पत्ति और विकास

भारतीय पौराणिक साहित्य में जिस प्रकार गंगा की उत्पत्ति त्रिमूर्ति द्वारा मानी गई है, उसी प्रकार नाट्य-वेद की रचना भी त्रिमूर्ति द्वारा मानी जाती है। नाटक के लक्षण-ग्रन्थों में भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र प्राचीनतम है। उसमे नाट्य-कला की उत्पत्ति दैवी बताई गई है। उसमें लिखा है कि सत्ययुग के बीत जाने पर त्रेतायुग के आरम्भ में देवता ब्रह्मा के पास गए और उनसे मनोरंजन की सामग्री के लिए प्रार्थना की। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर नाट्य-वेद की रचना की। उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय-कला और अथर्वण से रस लेकर नाट्य-वेद का निर्माण किया। तत्पश्चात् शिव ने ताण्डव और पार्वती ने लास्य नृत्य दिए। विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया और विष्णु ने चार नाट्य-शैलियाँ दीं। इस प्रकार नाट्य-वेद की रचना कर पृथ्वी पर मनुष्यों के लाभार्थ भेजने का कार्य ब्रह्मा ने भरत मुनि को सौंपा। भारतीय नाट्य-वेद की रचना कब हुई, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी रचना बहुत प्राचीन है। ऊपर की पौराणिक कथा का यही मतलब है कि भारतीय नाट्य-कला के बीज वेदों में पाए जाते हैं। ऋग्वेद में कथोपकथन और अपने प्रेमियों का चित्त आकर्षित करने के लिए कुमारियों के नृत्य का उल्लेख मिलता है। सामवेद में गायन और यजुर्वेद मे वादन-गायन के साथ-साथ नृत्य का उल्लेख है। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन आर्य ऋतु-परिवर्तन के समय, अथवा नई फसल काटते समय, अथवा धार्मिक उत्सवों के समय मिल-जुल कर गायन-नृत्य आदि किया करते थे। इन गायन-नृत्यादि में ही हमें भारतीय नाट्य-कला के बीज मिलते हैं। आगे चलकर महाभारत में 'नट' शब्द का उल्लेख मिलता है। किन्तु कुछ विद्वान् केवल इसी शब्द के आधारपर नाटकों की प्राचीनता मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे उसका अर्थ केवल 'नृत्य करने वाला' लेते हैं। रामायण में भी नट-नर्तकों का उल्लेख मिलता है। 'हरिवंश-पुराण' में राम-जन्म और कौवेररंभाभिसार नाटकों के खेले जाने का वर्णन है। 'अग्नि-पुराण' के ३३६-४६ सर्गों में श्रव्य और दृश्य काव्य की विवेचना की गई है। किन्तु इन ग्रंथों की निर्माण-तिथियाँ संदिग्ध होने के कारण नाट्य-कला के जन्म की कोई तिथि निर्धारित करने में अधिक सहायता नहीं मिलती। अधिक-से-अधिक यही निष्कर्ष

निकाला जा सकता है कि भारतीय नाट्य-कला बीज रूप मे वैदिक काल में विद्यमान थी और बाद को वह और अधिक विकसित हुई। किन्तु तीसरी शताब्दी पूर्वेसा में पाणिनी ने शिलालिन् और कृशाश्व के नट-सूत्रों का उल्लेख किया है। उनसे डेढ़ शताब्दी बाद पतजलि के महाभाष्य मे भी नाट्य-कला के सम्बन्ध में कथन मिलते हैं। विद्वानों ने बड़े परिश्रम के बाद इस बात का पता लगाया है कि इस समय से पहले भारतीय नाट्य-कला का विशेष रूप से विकास हो चुका था। यदि ऐसा न होता तो ईसवी शताब्दी के आसपास कालिदास, अश्वघोष, हर्ष, भवभूति तथा अन्य प्रसिद्ध नाटककार न हुए होते। बौद्ध-काल में भी चुल्लवग्ग के 'विनयपिटक' में कीटागिरि की रगशाला का उल्लेख मिलता है। रंगशाला में नृत्य करने वाली नर्तकी के साथ रहने से अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षुओं को निर्वासित कर दिया गया था। संभवतः दुःखवादी भिक्षु रंगशाला को निन्दनीय समझते थे।

भारतीय नाट्य-कला का सम्बन्ध कठपुतलियों और छाया-नाटकों से भी माना जाता है। इसमे सन्देह नहीं कि प्राचीन भारत मे कठपुतलियों से मनोरजन किया जाता था। महाभारत मे कठपुतलियों का उल्लेख है। इसी प्रकार गुणाढ्य कृत 'कथासरित्सागर', राजशेखर कृत 'बाल रामायण' (१०वी शताब्दी, पॉचवा अंक) आदि से भी कठपुतलियों की प्राचीनता सिद्ध होती है। भारतीय नाट्य-साहित्य में प्रचलित सूत्रधार और स्थापक शब्दों का सम्बन्ध भी मूलतः कठपुतलियों से स्थापित किया जा सकता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास और डॉ० बड़थ्वाल ने पिशेल को उद्धृत करते हुए यहॉ तक लिखा है कि मध्ययुग में यूरोप में कठपुतलियों आदि का जो नाच हुआ करता था, वह भी भारत का ही अनुकरण था। उक्त लेखकद्वय ने छाया-नाटकों का उल्लेख करते हुए यह भी लिखा है कि ऐसे नाटकों के मुख्य आधार प्रायः रामायण और महाभारत के आख्यान आदि हुआ करते थे। ऐसे नाटको में सुभटकृत 'दूतागद' भवभूति कृत 'महावीरचरित', राजशेखर कृत 'बाल-रामायण' और जयदेव-कृत 'प्रसन्नराघव' मुख्य हैं। उन्ही के अनुसार भारत मे, विशेषतः दक्षिण भारत में, ऐसे नाटक सोलहवीं और सत्रहवी शताब्दी तक खेले जाते थे। भारत की देखा-देखी ऐसे छाया-नाटकों का प्रचार जावा द्वीप तक में हो गया था।

कुछ विद्वानों का कथन है कि भारतीय नाट्य-कला को यूनान से प्रेरणा मिली। इसके प्रमाण में वे 'यवनिका' शब्द का उल्लेख करते हैं। इसका खण्डन स्वर्गीय 'प्रसाद' जी ने अपने 'रंगमंच' शीर्षक लेख में किया हैं। उन्हींके शब्दों में "कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में 'यवनिका' यवनों अर्थात् ग्रीकों

से नाटकों में ली गई है; किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला। अमरकोष में—'प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा'; तथा हलायुध में—'अपटी कांडपटः स्याम् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करणी'। इसमें 'य' से नहीं किन्तु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है। जवनिका से शीघ्रता का द्योतन होता है। 'जव' का अर्थ वेग और त्वरा से है। तब जवनिका उस पट को कहते हैं जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके।......" वैसे भी भारतीय और ग्रीक नाटकों में मौलिक भेद है और ग्रीकों के सम्पर्क में आने से पूर्व ही भारतीय नाट्य-कला का जन्म और विकास हो चुका था। कुछ विद्वान् तो भारतीय नाट्य-कला पर ग्रीक प्रभाव बिल्कुल मानने के लिए तैयार नहीं है। वास्तव में भारतवर्ष चौथी शताब्दी पूर्वेसाके प्रारम्भ में ग्रीकों के सम्पर्क में आया था। इस सम्पर्क का एक दूसरे पर कोई प्रभाव न पड़ा हो, यह तो अधिक विश्वसनीय बात नहीं है। पुरातत्वविदों के मतानुसार भारतीय मूर्ति-कला पर निश्चित रूप से ग्रीक प्रभाव पड़ा। सम्भव है नाट्य-कला के क्षेत्र मे पारस्परिक आदान-प्रदान बहुत महत्वपूर्ण और प्रमुख न रहा हो। भारतीय नाट्य-कला पर ग्रीक प्रभाव माननेवाले विद्वानों की संख्या अब बहुत कम रह गई है। इस प्रकार ईसवी सन् से २२०० वर्ष पूर्व भारत मे नाटकों का पूर्ण प्रचार हो गया था और अनेक प्रतिभाशाली लेखकों ने भारतीय नाट्य-साहित्य की श्री-वृद्धि की।

हिन्दी नाट्य-साहित्य

किसी भी देश का नाट्य-साहित्य उस देश के जीवन की परिस्थितियों पर बहुत निर्भर रहता है। उसके लिए उपयुक्त वातावरण की सबसे अधिक आवश्यकता हुआ करती है। हिन्दी का नाट्य-साहित्य इसका ज्वलंत उदाहरण है। ईसा की सातवीं शताब्दी में सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद देश की राजनीतिक परिस्थिति का ह्रास हो गया था। पारस्परिक विद्वेष और फूट के फलस्वरूप देशी नरेश आपस मे निरंतर युद्ध करते रहते थे। देश को एकता के सूत्र में बाँधने वाला, कोई न रह गया था। यद्यपि 'हनुमन्नाटक', 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'मुद्राराक्षस' आदि नाटकों की रचना इसी समय के लगभग हुई थी, तथापि नाट्य-रचना का प्रचार दिन-पर-दिन कम हो चला था। आगे संस्कृत मे जिन नाटकों की रचना हुई वे भी अत्यन्त साधारण कोटि के थे और आज उनके नाम-मात्र अवशेष रह गए है। भारतीय अराजकतापूर्ण राजनीतिक परिस्थिति के फलस्वरूप देश पर मुसलमानी आक्रमण प्रारम्भ हुए और धीरे-धीरे उन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। एक तो आक्रमणकालीन अव्यवस्था के कारण नाट्य-रचना का पतन स्वाभाविक था, दूसरे न तो मुसलमान अपने साथ कोई नाट्य-

साहित्य लाए और न इस्लाम नाट्य-साहित्य की अनुमति ही देता था। बाद को मुगल बादशाहों ने संगीत, चित्रकला आदि ललित कलाओं को आश्रय अवश्य दिया, किन्तु नाटक का वे फिर भी आदर न कर सके। वैसे भी संस्कृत को छोड़कर प्राकृत-अपभ्रंश साहित्यों से भी दृश्यकाव्य के क्षेत्र में कोई प्रेरणा न मिल सकी। मध्ययुगीन हिन्दी रीति-कवियों ने काव्य-शास्त्र का विवेचन तो किया, किन्तु रूपक (दृश्य-काव्य) को उन्होने कोई स्थान न दिया। हाँ, देश में जहाँ-जहाँ मुसलमानी राज्य-सत्ता स्थापित न हो सकी वहाँ कभी-कभी नाटकों की रचना हो जाती थी। इस प्रकार मध्ययुग में नाट्यसाहित्य को कोई प्रोत्साहन न मिल सका। मुसलमानों द्वारा देवमन्दिर और राज-सभाओं के नष्ट हो जाने के साथ-साथ अभिनयशालाओं का भी अस्तित्व मिट गया। फलतः मध्ययुगीन हिन्दी-प्रदेश के गाँवों में लीलाओं तथा रूपक के कुछ हीन रूपों का प्रचार अवश्य रहा। किन्तु शास्त्रीय पीठिका के अभाव मे वे भ्रष्ट ही होते चले गए। फलतः उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक यही परिस्थिति बनी रही। जनता में भद्दे और भ्रष्ट अभिनयों का प्रचार था और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उनकी निन्दा की। कुछ लोगों ने हाथरस और राजपूताना के स्वाँग, मथुरा और वृन्दावन की रास-लीला और अवध की रामलीला से हिन्दी नाट्य-साहित्य का जन्म माना है। किन्तु यह सरासर भूल है। उनका अपना अलग अस्तित्व था जो मुसलमानी शासनकाल से चला आ रहा था। उन्होंने हिन्दी नाटकों की रचना-पद्धति प्रभावित अवश्य की, किन्तु हिन्दी नाटकों का जन्म इन लीलाओं की कोख से नहीं हुआ। वास्तव में हिन्दी नाट्य-साहित्य का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में नवोत्थानकालीन भावना के फलस्वरूप संस्कृत साहित्य के अध्ययन और नवीन शिक्षा के फलस्वरूप अंगरेजी साहित्य के अनुशीलन तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के अन्तर्गत अनुकूल वातावरण के कारण हुआ। जो वृक्ष काल-गति से सूख गया था वह फिर हरा-भरा हो उठा।

भारतेन्दु (१८५०–१८८५) से पूर्व यद्यपि रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह कृत 'आनन्दरघुनन्दन', और भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदास कृत 'नहुष' (१८५९, जो अपूर्ण रूप में मिलता है) नाटक मिलते हैं, तो भी उस समय हिन्दी में नाटकों का एक प्रकार से अभाव था। १८६१ में राजा लक्ष्मण सिंह ने कालिदास कृत 'शकुंतला' का अनुवाद अवश्य किया था। इन तीन नामों के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम ही उल्लेखनीय है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि नवोत्थानकालीन भावना से प्रेरित हो संस्कृत साहित्य के अध्ययन से प्रेरणा मिली ही, साथ ही अंगरेजी साहित्य से प्रोत्साहन

मिला। अंगरेजों ने भारत के बड़े-बड़े नगरों में अपने मनोरंजन के लिए प्रेक्षागृह भी स्थापित किए थे जहाँ अंगरेजी नाटकों के अभिनय हुआ करते थे। ऐसे प्रेक्षागृह बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, पटना आदि प्रधान केन्द्रों में थे। एक बार तो शकुंतला के अंगरेजी अनुवाद का भी अभिनय हुआ था। इन अभिनयों में उच्चवर्गीय भारतवासी भी बुलाए जाते थे। इसी समय हिन्दी गद्य का भी यथेष्ट विकास हो चुका था और नवोदित सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलनों ने नवजात हिन्दी नाट्य-साहित्य के लिए उपकरण जुटाये। अस्तु, इन सब कारणों से उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध में हिन्दी नाट्य-साहित्य का जन्म और विकास हुआ।

सुविधा की दृष्टि से हम हिन्दी नाट्य-साहित्य को तीन कालों मे विभाजित कर सकते हैं: (१) पूर्व-भारतेन्दु काल, (२) भारतेन्दु काल, और (३) उत्तर-भारतेन्दु काल या बीसवी शताब्दी का नाट्य-साहित्य। पूर्व-भारतेन्दु काल के अन्तर्गत चौदहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक विद्यापति कृत 'रुक्मिणी हरण' और 'पारिजात हरण', केशव कृत 'विज्ञान गीता', यशवन्त सिंह कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय', निवाज कृत 'शकुंतला', हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक', आदि नाटक नाम से पुकारी जानेवाली रचनाओं का पता चला है। किन्तु उनमे नाट्य-कला के तत्वों का अभाव है। उनमें पात्रप्रवेशादि नहीं पाया जाता। उन सबकी रचना काव्य की भाँति हुई है।

भारतेन्दु कालीन नाट्य-साहित्य के प्रवर्तक स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। यह पुनीत कार्य उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ। उन्होंने अंगरेजी और संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया था। बंगदेश में वे नाटकों का सूत्रपात देख चुके थे। हिन्दी में ऐसे उपयोगी साहित्य के अभाव का अनुभव कर वे इस ओर अग्रसर हुए। उनके नाटक मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के हैं। मौलिक नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', और 'नीलदेवी', और अनूदित नाटकों में 'मुद्राराक्षस' सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु ने सामाजिक, धार्मिक, विशुद्ध साहित्यिक, पौराणिक और राष्ट्रीय एवं राजनैतिक नाटकों की रचना की। भारतेन्दु की रचनाओ मे प्रेम मुख्य तत्व है—वह या तो ईश्वरोन्मुख प्रेम है, या देशोन्मुख। धार्मिक दृष्टि से वे अत्यन्त सहिष्णु थे और देश के पतन के कारणों को दूर कर उसे उन्नति की ओर अग्रसर करना चाहते थे। उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था। राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में अन्य नाटककारों की विचारधारा भी भारतेन्दु की विचारधारा के लगभग समान थी। श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, रायकृष्णदेवशरण सिंह

आदि के 'रणधीर प्रेममोहिनी' (१८७८), 'तप्तासंवरण' (१८८३), 'संयोगिता स्वयम्वर' (१८८५), 'दुःखिनी बाला' (१८८०), 'पद्मावती' (१८८२), 'महाराणा प्रताप' (१८९७), 'मयंकमंजरी महानाटक' (१८९१), 'माधुरी रूपक', आदि नाटकों में भारतेन्दु द्वारा स्थापित नाटकीय परम्परा ही आगे बढ़ी है। किन्तु प्रचारात्मकता, पारसी कम्पनियों के प्रभाव, मानसिक अराजकता आदि के कारण कुछ उपर्युक्त उच्चकोटि के नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और श्रीनिवासदास के जीवन-काल में (१८८७ तक) तथा उनकी मृत्यु के बाद निश्चित रूप से हिन्दी में कोई अपूर्व और मनोहर नाट्य-ग्रन्थ देखने में नहीं आता। नाटकों की जैसी दुर्दशा उन दिनों हो गयी थी, उसे देखकर साहित्य-रसिकों को बड़ा दुःख होता था। अनेक नाटककारों ने प्रेरणा तो भारतेन्दु से ग्रहण की, किन्तु रचनाएँ प्रचलित पारसी रंगमंच के लिए थीं। हिन्दी साधु अभिनयशाला का अभाव भी इसी ह्रास का प्रधान कारण था। अस्तु, काल-प्रभाव के कारण नाट्य-साहित्य की जैसी उन्नति होनी चाहिए थी, वैसी न हो सकी। वास्तव में वह अपने शैशव-काल में ही रोग-ग्रस्त हो गया था। नाट्य-साहित्य जैसे उपयोगी साधन के सफल प्रयोग के लिए प्रतिभाशाली लेखकों का अभाव था। इसी प्रकार भारतेन्दु, देवकीनन्दन त्रिपाठी, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, विजयानन्द त्रिपाठी आदि ने 'अन्धेर नगरी', 'बैल छः टके को', 'महा अन्धेर नगरी', आदि प्रहसनों की रचना की जिनमें लेखकों ने सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक कुरीतियों और दौर्बल्य तथा निन्दनीय बातों पर व्यंग कसे। किन्तु ये प्रहसन भी उच्च कोटि के नहीं हैं। उनमें अधिकतर अर्थहीन प्रलाप और असंगत तथा अस्वाभाविक परिहास मिलता है। किन्तु तब भी प्रहसन-लेखकों ने मानसिक दौर्बल्य के निबिड़ अन्धकार में हास्य की फुलझड़ियाँ छुटायी, यही क्या थोड़ा है। शास्त्रीय रचना-पद्धति की दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाट्य-साहित्य ने भारतेन्दु द्वारा स्थापित नवीन नाट्य-धर्म का अनुसरण किया। भारतेन्दु ने न तो प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्त ज्यों के त्यों ग्रहण किये और न पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का अन्धानुकरण ही किया। काल और परिस्थिति के अनुसार सुहृद्जनों की परिवर्तित रुचि देखते हुए उन्होंने दोनों नाट्यपद्धतियों का समन्वय उपस्थित किया। इसीलिए भारतेन्दु काल में हमें यदि विशुद्ध भारतीय नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार लिखी गयी नाट्यकृतियाँ उपलब्ध होती हैं, तो पाश्चात्य सिद्धान्तों के अनुसार लिखी गयी रचनाएँ भी मिलती हैं। स्वयं भारतेन्दु ने इन तीनों पद्धतियों के उदाहरण रखे थे और उनके सहयोगियों ने उनका नेतृत्व स्वीकार किया। किन्तु तब भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि नवीन या मिश्र पद्धति से लिखे गये नाटकों में परिवर्तन

केवल बाह्य दृष्टि से उपस्थित हुआ। उनकी अन्तरात्मा अधिकतर वही प्राचीन सुखपूर्ण और आदर्शवादी बनी हुई थी। हिन्दी वालों ने कोट-पतलून पहिनना भले ही सीख लिया हो, अन्तर्जगत् में वे अभी भारतीय ही बने हुए थे। कालान्तर में जिस प्रकार भारतीय जन का अन्तर पश्चिम से प्रभावित हुआ उसी प्रकार नाटकों का भी। सच बात तो यह है कि भारतेन्दु-काल में यदि प्राचीन बिल्कुल नहीं है तो नवीन भी बिल्कुल नहीं है। संस्कृत, बंगला और अंगरेजी से अनूदित नाटकों ने भी इस क्रम मे अपना योग प्रदान किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यदि हिन्दी की एक साधु अभिनयशाला की स्थापना और कर दी होती तो यह हिन्दी-भाषियों का सौभाग्य होता। उसके अभाव मे पारसी रंगमच ने बहुत दिनों तक हिन्दी नाट्यसाहित्य को पनपने का अवसर ही प्रदान नहीं किया। 'प्रसाद' के द्वारा उसका उद्धार अवश्य हुआ, किन्तु रंगमंच की समस्या तो अब तक बनी हुई है। चित्रपट के कारण विद्वानों में निराशावाद का प्रचार देखा जाता है, किन्तु रूस तथा पश्चिम के अन्य देश इस सम्बन्ध में उत्साहवर्धक सिद्ध हो सकते हैं।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में भारतेन्दु द्वारा स्थापित नाट्य-परम्परा टूट चुकी थी। बीसवी शताब्दी के प्रथम पच्चीस-तीस वर्षों में पारसी रगमच का और भी प्रचार हुआ और अनेक लेखकों ने केवल पारसी रंगमंच के लिए नाटकों की रचना की। ऐसे लेखकों मे 'बेताब', आगा हश्र काश्मीरी, शैदा, जौहर, राधेश्याम कथावाचक आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। आर्थिक दृष्टि से पारसी कम्पनियों ने उर्दू के साथ-साथ हिन्दी का प्रयोग करना भी प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु इन नाटकों में नाट्य-कला का हीन रूप दृष्टिगोचर होता है। नाटककार चमत्कारपूर्ण एवं रोमाँचकारी दृष्यों की अवतारणा कर दर्शकों मे आश्चर्य और कुतूहल उत्पन्न करने की चेष्टा करते थे। ऐसे दृश्यों में अद्भुत और भयानक रसों का मिश्रण रहता था। वे शेक्सपियर की नकल कर स्वतन्त्र हास्य रसात्मक उपकथानकों की सृष्टि भो करते थे। किन्तु हास्य अत्यन्त भद्दा और अपरिष्कृत रहता था। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में नाट्य-कला अराजकतापूर्ण और अव्यवस्थित थी—जो एक प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी से उत्तराधिकार में प्राप्त परिस्थिति थी। नाटककार किसी कलात्मक नियम का पालन नहीं करते थे। यही कारण है कि पारसी रंगमंच के लिए लिखे गये नाटकों मे उच्चकोटि की रचनाएँ नही मिलती।

स्वभावतः पारसी रंगमंच के लिए लिखे गए नाटकों के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया—वास्तव में यह आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों से ही चला आ रहा था। साहित्यिक नाटकों के उदाहरण प्रस्तुत करने के

लिए बँगला से द्विजेन्द्रलाल राय, गिरीश घोष आदि के नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए गए जिनसे साहित्यिकता के साथ-साथ रंगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। हिन्दी मे प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) के समय तक उच्चकोटि की मौलिक रचनाएँ उपलब्ध नही होती—यद्यपि बदरीनाथ भट्ट कृत 'कुरुवनदहन' जैसे कुछ अपवाद-स्वरूप नाटकों में नाटकीय तत्व, चरित्र-चित्रण कथा-संगठन, साहित्यिकता आदि की दृष्टि से उज्ज्वल भविष्य का संकेत मिलता है। इसी समय स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' अपनी कला लेकर जनता के सामने आए। हिन्दी मे पाश्चात्य नाट्य-पद्धति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगियों ने ही ग्रहण कर ली थी। धीरे-धीरे हिन्दी के नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य-पद्धति अधिकाधिक अपना ली थी। 'प्रसाद' जी ने शिक्षित समुदाय के सामने भारत के प्राचीन गौरव का चित्र प्रस्तुत करते हुए आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओं का पोषण किया। उन्होंने ऐतिहासिक नाटक लिखे, इसलिए कथानकों के अत्यधिक ऐतिहासिक आधार के कारण उनकी रचनाओं मे दोष उत्पन्न हो गए हैं, किन्तु सघर्ष, आदर्श, चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से उनके नाटक महत्वपूर्ण है और वे हिन्दी की नाट्य-कला का विकास प्रस्तुत करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद उनका कार्य सराहनीय है। उनका विकास स्वच्छन्दवादी ढग का है और भारतीय रस-सिद्धान्त का भी पोषण करता है। उनके नाटकों मे आदर्शवाद, दार्शनिकता और कवित्वपूर्ण शैली का मिश्रण है। 'प्रसाद' जी की रचनाओ मे 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि प्रसिद्ध हैं। 'प्रसाद' के अतिरिक्त हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट आदि नाटककार उच्चकोटि के हैं। इधर पिछले बीस वर्षों में समस्या नाटकों और एकाकियों का निर्माण भी हुआ है। वर्तमान नाट्य-साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है।

नाटककार का परिचय

'चन्द्रावली नाटिका' के लेखक भारतेन्दु का जन्म १८५० मे हुआ था। वे प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे और उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदास हिन्दी के अच्छे कवि और अपने समय के प्रगतिशील व्यक्तियों में से थे। जब वे पाँच वर्ष के थे तब उनकी माता पार्वती देवी का और जब वे दस वर्ष के थे तब उनके पिता का देहान्त हो गया। पिता की असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो सका। यद्यपि वे तीन-चार वर्ष तक क्वीन्स कॉलेज, बनारस में बराबर पढ़ने जाते थे, किन्तु उन्होंने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया वह स्वाध्याय द्वारा। वे भारतवर्ष की लगभग सभी

प्रधान भाषाएँ जानते थे। पाँच-छः वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने काव्य-प्रतिभा का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह मन्नादेवी से हुआ। विवाह के बाद उन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की और अवसर मिलने पर सदैव अन्ध-विश्वास और अप्रामाणिकता का विरोध किया। उन्होंने स्वदेशी, निज भाषा-उन्नति, राष्ट्रीयता, भारत की उन्नति, स्त्री-शिक्षा आदि बातों पर सदैव जोर दिया। ६ जनवरी १८८५ को चौतीस वर्ष चार महीने की अवस्था मे उनका देहान्त हो गया। उनके दो पुत्र और एक पुत्री हुई थी। किन्तु पुत्रों का बाल्यावस्था में ही देहान्त हो गया। उनकी पुत्री विद्यावती एक विदुषी महिला थी। उनकी लोक प्रियता का प्रमाण इसी से मिलता है कि सारे देश ने उन्हे 'भारतेन्दु' की उपाधि प्रदान की। भारतेन्दु की प्रतिभा चौमुखी थी और उन्होंने विविध प्रकार से हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया। उनका व्यक्तित्व तत्कालीन शिक्षित धनिक वर्ग की विशेषता लिए हुए था। उन्होंने जीवन भर देश, भाषा और साहित्य की सेवा की। सार्वजनिक जीवन ग्रहण करते हुए उन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' (१८६८), हरिश्चन्द्र मैगजीन (१८७३) आदि पत्रों का सम्पादन किया। भारतीय इतिहास के संधि-काल में आविर्भाव होने से उन्होंने नवीन और प्राचीन, पाश्चात्य और भारतीय बातों का सुन्दर समन्वय उपस्थित कर भावी उन्नति के मार्ग का सृजन किया। अँगरेजी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप जो राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक परिवर्तन हो रहे थे उनके प्रति वे जागरूक थे। उनका जीवन-काल वास्तव में भारतीय नवोत्थान का प्रथम चरण था। यह नवोत्थान एक ओर तो अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर रहा था, और दूसरी ओर उसकी दृष्टि भविष्य पर लगी हुई थी। 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, तोताराम वर्मा, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीनिवासदास आदि ने भारतेन्दु के नेतृत्व में तत्कालीन जीवन के हीन और उज्ज्वल पक्षों पर दृष्टिपात कर देश के मंगलमय भविष्य की अवतारणा की।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पैतीस वर्ष के जीवन मे छोटे-बड़े और विविध विषय-संबंधी लगभग २३८ ग्रन्थों की रचना की। किन्तु उनकी प्रमुख-प्रमुख नाट्य-रचनाएँ निम्नलिखित है :—

अनूदित—

१. 'विद्यासुंदर' (नाटक, संस्कृत में चौर कवि की रचना का बँगला से अनुवाद), १८६८ ई० (सं० १९२५)।

२. 'पाखण्ड विडंबन' (रूपक, कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' के तृतीय अंक का अनुवाद), १८७२ ई० (सं० १९२९)।

३. **'धनंजय-विजय'** (व्यायोग, काचन कृत), १८७३ ई० (सं० १९३०)।

४. **'कर्पूर-मंजरी'** (सट्टक, राजशेखर कृत), १८७५ ई० (सं० १९३२)।

५. **'मुद्राराक्षस'** (नाटक, विशाखदत्तकृत), १८७८ ई० (सं० १९३५)।

६. **'दुर्लभ-बन्धु या वंशपुर का महाजन'** (शेक्सपियर कृत 'मर्चेन्ट ऑव वेनिस' का अनुवाद जो अपूर्ण रह गया था और बाद को अन्य व्यक्तियों ने पूर्ण किया), १८८० ई० मे प्रकाशित।

मौलिक—

१. **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** (प्रहसन), १८७३ ई० (स० १९३०)।

२. **'सत्य हरिश्चन्द्र'** (नाटक) १८७५ ई० (स० १९३२)। कुछ विद्वान् इसे क्षेमेश्वर के 'चण्डकौशिक' के आधार पर लिखा बताते हैं और इसे भारतेन्दु के मौलिक ग्रन्थों मे नही मानते।

३. **'श्री चन्द्रावली'** (नाटिका), १८७६ ई० (सं० १९३३)।

४. **'विषस्य विषमौषधम्'** (भाण), १८७६ ई० (सं० १९३३)।

५. **'भारत दुर्दशा'** (नाट्यरासक), १८८० ई० (सं० १९३७)। बा० ब्रजरत्नदास के अनुसार १८७६ ई० मे।

६. **'नीलदेवी'** (गीतिरूपक), १८८१ ई० (सं० १९३८)।

७. **'अंधेर नगरी'** (प्रहसन), १८८१ ई० (सं० १९३८)।

अपूर्ण (मौलिक)—

१. **'प्रेम जोगिनी'** (नाटिका), १८७५ ई० (सं० १९३२)।

२. **'सती प्रताप'** (नाटक), १८८३ ई० (स० १९४०)। १८९२ ई० में राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया।

इनके अतिरिक्त उन्होंने बॅगला के 'भारतमाता' के आधार पर नाट्यगीत 'भारत जननी' (१८७७) की रचना भी की। १८८४ ई० में उसका तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ था। उनके कुछ अपूर्ण अप्राप्य मौलिक या अनूदित नाटकों के नाम मात्र मिलते है जैसे 'प्रवास नाटक', 'नव मल्लिका', 'रत्नावली', 'मृच्छ कटिक' आदि।

१८८३ (सं० १९४०) में उन्होंने 'नाटक' ग्रन्थ की रचना की जो भारतेन्दु, कालीन नाट्य-परिस्थितियों के समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

'श्री चन्द्रावली' सर्वप्रथम 'हरिश्चन्द्र चद्रिका' खंड ४, स १–३, सन् १८७६ में प्रकाशित हुई थी। फिर बनारस प्रिटिंग प्रेस से १८७७ ई० में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई।

प्राचीन नाट्य-शास्त्र

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव प्राचीनता

और नवीनता के संक्राति काल में हुआ था। ऐसे संघर्ष के समय में उन्होंने हिन्दी साहित्यिकों का मार्ग-प्रदर्शन किया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे प्राचीनता और नवीनता के समन्वय के पक्षपाती थे। हिन्दी में नाटकों का अभाव देखकर उन्होंने प्राचीन साहित्य से उदाहरण स्वरूप कई अनुवाद प्रस्तुत किए और साथ ही प्राचीन लक्षणों के अनुसार, नवीन लक्षणो के अनुसार, और प्राचीन तथा नवीन के मिश्रित लक्षणों के अनुसार मौलिक रचनाएँ भी उपस्थित की। 'श्री चन्द्रावली' नाटिका प्राचीन लक्षणों के अनुसार लिखा गया ग्रन्थ है, अतएव उसे दृष्टि में रखते हुए प्राचीन नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी कुछ बाते यहाँ दी जाती हैं।

'नट' शब्द संस्कृत 'नट्' धातु से बना है और उसका अर्थ है नाचनेवाला। 'नाट्य' और 'नाटक' शब्द भी 'नट्' धातु से बने हैं जिनसे नटों के कर्म-व्यवसाय का द्योतन होता है। अतः नाट्य-शास्त्र मे नटों से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों और भावों का वर्णन रहता है। नाटक को 'रूपक' भी कहते हैं। 'रूपारोपात्तु रूपकम्'[१] अर्थात् जिसमें रूप का आरोप किया जाय उसे रूपक कहते है। अभिनय के समय नाटक का प्रत्येक पात्र किसी दूसरे का रूप धारण कर उसी के अनुसार व्यवहार करता है। काव्य दो प्रकारके माने गए हैं—१. श्रव्य, और—२. दृश्य। जिसमें कवि स्वय किसी वस्तु का वर्णन करता है और जिसके सुनने में आनन्द प्राप्त होता है उसे श्रव्य काव्य कहते हैं, जैसे, 'रघुवंश', 'रामायण' आदि। दृश्य काव्य वह है जिसमें कवि स्वयं कुछ नहीं कहता, किन्तु अपनी हृद्गत बातोंको उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा कहलाता है और जिसके देखने में आनन्द मिलता है, जैसे, 'शकुंतला', 'स्कंदगुप्त' आदि। श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य मे कौन सा श्रेष्ठ है, इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देना कठिन है। बहुत-कुछ अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर करता है। रूपक या नाटक 'दृश्य काव्य' के अन्तर्गत आते हैं। जब एक पात्र दूसरे का रूप धारण कर उसका अनुकरण करता है तो उसे 'अभिनय' कहते हैं। संस्कृत में 'नी' धातु से पहले 'अभि' उपसर्ग और पीछे 'अच्' प्रत्यय लगाने से 'अभिनय' शब्द बनता है। 'नी' का अर्थ है 'ले जाना' और 'अभि' का अर्थ है 'चारों ओर'। अर्थात् जिसमे किसी के कार्यका अनुकरण अग से, वाणी से, वेशभूषा से, मनोवृत्ति-सूचक शारीरिक चिह्नों से सब ओर से दिखाया जाय उसे 'अभिनय' कहते हैं।[२] नाटक मे हर्ष-शोक, सुख-दुःख तथा अन्य इसी प्रकार के कार्य अभिनय द्वारा ही दिखाए जाते हैं। वही अभिनय सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जिसे देखकर दर्शक इस बात का

१. 'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक १।
२. 'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक २।

अनुभव करे कि वह कोई खेल न देखकर वास्तविक दृश्य देख रहा है। नाट्य-शास्त्र के आचार्यों ने पहले अभिनय को तीन भागो में बाँटा था—नाट्य, नृत्य और नृत्त। कहा जाता है शिव ने इन तीन भेदों में दो भेद और बढ़ाए—ताण्डव और लास्य। 'नाट्य' को छोड़कर अभिनय के शेष चारों भागों का संबंध नाचने वालों से है। इसलिए यहाँ केवल नाट्य के भेदों का उल्लेख किया जाता है :—
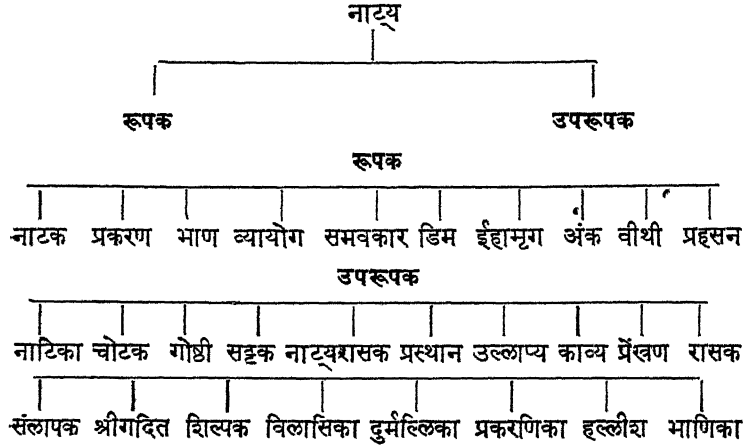
किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते है। रूपक के सब भेदों में 'नाटक' मुख्य है। 'श्री चन्द्रावली' नाटिका है और 'नाटिका' उपरूपक के अठारह भेदों में से पहला भेद है। उपरूपक होते हुए भी वह 'नाटक' और 'प्रकरण' का मिश्रण है। 'नाटिका' की बहुत-सी बातें 'नाटक' से मिलती हैं। 'नाटिका' जहाँ 'प्रकरण' से अधिक मिलती है वहाँ उसे 'प्रकरणिका' कहते हैं, और जहाँ 'नाटक' से अधिक मिलती है उसे 'नाटिका' कहते हैं।

नाटकीय मुख्य कथा को आरम्भ करने से पहले भारतीय नाट्य-शास्त्र मे कुछ कृत्यों का विधान है जिन्हें पूर्वरंग कहते हैं।[१] पूर्वरंग के कई अग हैं जिनमे मुख्य 'नादी' है। राजा, ब्राह्मण अथवा देवता की आरंभ में जो स्तुति रहती है उसे 'नांदी' कहते हैं। नांदी एक प्रकार का मंगलाचरण है। नादी के लिए एक या दो पद्य ही आवश्यक होते हैं, किंतु कहीं-कही अधिक भी देखे जाते हैं। नाटक का प्रधान परिचालक सूत्रधार होता है। उसके हाथ में नाटकीय

१. यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥
—'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक २२ ।

व्यवस्था के सूत्र होने के कारण उसे सूत्रधार कहते हैं। वह चतुर, व्यवहार-कुशल और सब विद्याओं में निपुण माना गया है। वही नांदी का उच्चारण करता है। 'चंद्रावली' में ब्राह्मण आशीर्वाद पाठ करता हुआ बताया गया है और उसके बाद सूत्रधार आता है। उसमें 'भरित नेह नव...' और 'नेति नेति...' ये दो पद्य नादी-पाठ के रूप मे हैं। पारिपार्श्वक सूत्रधार का सहायक होता है किन्तु गुणों में उससे कम माना गया है। सूत्रधार-पार्श्ववर्ती को ही 'मारिष'[१] कहते हैं।

वस्तु की, कवि की, नाटक की अथवा प्रसंग की प्रशंसा करके दर्शकों को अभिनय देखने के लिए उन्मुख करने को 'प्ररोचना' कहते हैं। उसे सभा-पूजा के नाम से भी पुकारा गया है। उसमे कवि अपने नाम आदि का भी निर्देश करता है। 'चन्द्रावली' मे नादी के बाद जितने अंश में नाटक तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, उनके गुणादि कथन है वह 'प्ररोचना' के अन्तर्गत है।

कवि और नाटक इत्यादि का नाम-निर्देश हो जाने पर सूत्रधार नटी अथवा अपने साथी पारिपार्श्वक से नाटक के पात्र-प्रवेशादि समयोचित कर्मों के संबंध में जो बातचीत करता है उसे प्रस्तावना[२] कहते हैं। प्रस्तावना पाँच प्रकार की होती है—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और आवलगित। 'चंद्रावली' मे जहाँ सूत्रधार यह कहता है—'अहा! वह देखो मेरा प्यारा छोटा भाई शुकदेवजी बनकर रंगशाला मे आता है···' वहाँ प्रस्तावना है और प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है। जहाँ सूत्रधार आदि के भाषण में यह, वह, वे आदि दर्शक सर्वनामों द्वारा प्रत्यक्ष रूप में किसी का उल्लेख रहता है और उसके अनुसार पात्र-प्रवेशादि होता है, वहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना होती है। नाटिका में सूत्रधार के उल्लेखानुसार ही शुकदेव का प्रवेश होता है और उसने 'वह' सर्वनाम का प्रयोग भी किया है।

नृत्य, अभिनय आदि में परदे के भीतर का वह स्थान जिसमें नट वेश सजते हैं नेपथ्य कहलाता है।

नाट्यशास्त्रियों का यह मत रहा है कि प्रायः दो अँकों के बीच में एक वर्ष

१. सूत्रधार का पारिपार्श्विक (मारिष) कहलाता है।

२. नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा॥
—'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३१, ३२।

तक या समय अन्तर्निहित रहना चाहिये। यदि इससे अधिक का समय इतिहासानुमोदित हो, तो नाटककार को उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कम का कर देना चाहिये। साथ ही जो बाते प्रत्यक्ष दिखलाने योग्य नही होती उनकी केवल सूचना दे दी जाती है। अन्तर और सूचना अर्थोपक्षेपक नामक विधान द्वारा दिखाते हैं। उसे उपक्षेप भी कहते है। अर्थोपक्षेपक के पाँच भेद हैं[1] :—

१. विष्कम्भक २. प्रवेशक ३. चूलिका ४. अंकावतार ५. अंकमुख।

विष्कम्भक—जो बाते पहले हो गई है, अथवा जो आगे होने वाली है, उनकी सूचना जिस संक्षिप्त रीति से दी जाती है उसे विष्कम्भक[2] कहते हैं। यह केवल दो पात्रों का ही कथोपकथन होता है। ये पात्र प्रधान पात्रों में से नहीं होते। विष्कम्भक अंक के पहले अर्थात् नाटक के प्रारम्भ मे अथवा दो अंकों के बीच मे आ सकता है। प्रवेशक में भी विगत और भाविनी बातों की सूचना दी जाती है, किन्तु वह सदैव दो अँकों के बीच मे आता है और सूचना नीच पात्रों द्वारा दी जाती है। 'चन्द्रावली' मे हमें शुकदेव और नारद के सवाद द्वारा नाटकीय कथावस्तु के सम्बन्ध मे संकेत प्राप्त होते है।

'चन्द्रावली' मे आगे चलकर 'अँकावतार' का भी उल्लेख हुआ है। एक अँक के अन्त मे पात्रों द्वारा अगले अँक मे होने वाली बातो की कही-कही सूचना होती है। इस सूचना के अनुसार जब अगला अक प्रारम्भ होता है अर्थात् एक अंक की कथा जब दूसरे अंक मे चलती रहती है, केवल अंक के अन्त के पात्र बाहर जाकर अगले अंक के आरम्भ में फिर आ जाते हैं तो उसे 'अंकावतार' कहते हैं। किन्तु 'चन्द्रावली' में द्वितीय अंक के अन्तर्गत 'अंकावतार' संभवतः अन्तर्संधि के रूप मे है। न तो पात्र अगले अंक में आते है, न अक के अन्त की कथा अगले अंक में चलती है और न आगे कथानक मे पात्र का कोई प्रयोग ही हुआ है।

नेपथ्य से जिस वस्तु अथवा जिस अर्थ की सूचना दी जाती है उसे 'चूलिका' कहते हैं।

जब अंक में जिन बातों का वर्णन है उनके बीज, अर्थात् कारण, की जिसमें सूचना होती है उसे 'अंकमुख' कहते हैं।

---

१. अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ।
चूलिकांकाऽवतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि॥
—'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ५४।

२. वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
—'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ५५।

नाटकीय कथावस्तु के विभाजन को 'अंक' कहते हैं। अंक न तो बहुत बड़ा होना चाहिए और न बहुत छोटा और उसमे केवल रमणीय और सरस बातें ही दिखाई जानी चाहिए। जो बातें मुख्य कार्य के विरुद्ध न हो उन्हें चार-पाँच पात्रों के माध्यम द्वारा रखना अच्छा माना जाता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार युद्ध, वध, भोजन, मृत्यु, स्नान आदि दृश्य वर्जित हैं।

जब पुरुष स्त्री का रूप धारण कर कोमल, मृदु-मधुर नाट्य करता है तो उसे 'त्रिगूढ़' कहते है। 'चन्द्रावली' के चौथे अंक के प्रारम्भ से श्री कृष्ण का जोगिनी-रूप मे व्यापार लास्य के 'त्रिगूढ़' नामक भेद के ही अन्तर्गत है।

भारतवर्ष मे नाट्य-शास्त्र के ही सम्बन्ध मे रसों की भी चर्चा की जाती रही है। जब स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी भावो से पुष्ट होकर अपने परिपक्वावस्था को पहुँच जाता है तो रसिकों के हृदय मे जो आनन्द-वेग उमड़ पड़ता है उसे रस कहते है। प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव होता है :—

रस	स्थायी भाव
श्रृङ्गार	रति
हास्य	हास
करुण	शोक
रौद्र	क्रोध
वीर	उत्साह
भयानक	भय
वीभत्स	घृणा
अद्भुत	विस्मय
शान्त	निर्वेद (शम)

निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, घृति, जड़ता, हर्ष आदि तेतीस संचारी माने जाते हैं। किन्तु विद्वानों का मत है कि संचारी तेंतीस से भी अधिक हो सकते हैं। श्रृंगार सबसे अधिक व्यापक रस माना गया है। वह दो प्रकार का माना जाता है—१. संयोग श्रृङ्गार, और २. विप्रलंभ श्रृंगार (वियोग)। वियोग पूर्वानुराग, प्रवास, ईर्ष्या, विरह, और शाप के कारण उत्पन्न होता है और वियोग की दस दशाएँ मानी गई है—अभिलाषा, चिता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि (संज्वर), जड़ता और मरण। 'मरण' में भाव का अस्तित्व नहीं रह सकता, इसलिए 'मरण' मृत्यु से पूर्व की अवस्था समझनी चाहिए जिसमें प्राणों का संयोग रहने पर भी शरीर मृत के समान निश्चेष्ट हो जाय। वह व्यक्ति फिर से जीवित किया जा सकता है। ऐसी अवस्था को 'मूर्च्छा' भी कह सकते हैं।

दर्शन चतुर्विधि माना गया है-श्रवण-दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन और प्रत्यक्ष-दर्शन। पूर्वानुराग मे सखा, सखी, दूती, बन, उपवन, षट्ऋतु, चन्द्र, चाँदनी, चन्दन, पुष्प, पराग आदि उद्दीपन का कार्य करते हैं। हितकारिनी, विज्ञानिनी, अन्तरंग और बहिरग, ये चार प्रकार की सखियॉ मानी गई हैं और मण्डन, शिक्षादान, उपालम्भ और परिहास उसके कर्म भी माने गए हैं।

किसी दृश्य काव्य के कथानक को 'वस्तु' कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है—१. आधिकारिक अथवा मुख्य कथावस्तु, और २. प्रासगिक अथवा गौण अथवा मुख्य कथावस्तु की सहायक कथाएँ। आधिकारिक कथा का सूत्र आरम्भ से अन्त तक रहता है और प्रासंगिक कथावस्तु का सम्बन्ध मुख्य पात्रों से नही रहता। प्रासंगिक कथावस्तु की फल-सिद्धि नायक को न होकर किसी और ही को होती है। प्रासंगिक कथावस्तु भी दो प्रकार की होती है—१. पताका, और २. प्रकरी। जो प्रासंगिक कथा आधिकारिक कथा के अन्त तक चलती रहे उसे 'पताका' कहते हैं, जैसे, सुग्रीव की कथा। जो कथा-प्रसग बीच ही मे रुक जाय उसे 'प्रकरी' कहते हैं, जैसे, रामायण मे जयन्त की कथा।

कथावस्तु के आधार की दृष्टि से उसके तीन भेद किए जाते हैं—१. प्रख्यात, २. उत्पाद्य, और ३. मिश्र। दोनों आधिकारिक और प्रासंगिक कथाएँ प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र हो सकती हैं। जिस कथा का आधार इतिहास, पुराण या जनश्रुति होती है उसे 'प्रख्यात' कहते है। जिसका आधार कवि या नाटककार की कल्पना होती है उसे 'उत्पाद्य' कहते है। जिसमे इतिहास और कल्पना दोनों का मिश्रण हो, उसे 'मिश्र' कहते हैं। लेकिन इसमें नाटककार को काफी सावधान रहने की आवश्यकता है। उसे इतिहास का निर्धारित मार्ग बिल्कुल ही नहीं छोड़ देना चाहिए।

नाटकीय कथावस्तु के विभिन्न भागों या अंगों को कार्य-व्यापार की दृष्टि से कार्यावस्थाओं के अंतर्गत रखा जाता है। अवस्थाएँ भी पॉच हैं—१. आरंभ २. प्रयत्न ३. प्राप्त्याशा ४. नियताप्ति और ५. फलागम। अवस्थाएँ कार्य की एक प्रकार की विभिन्न स्थितियॉ (Stages) हैं। 'आरम्भ' कथानक वह आरम्भ होता है जिसमें किसी अभीप्सित फल की इच्छा होती है। अभीप्सित फल की प्राप्ति के सम्बन्ध में जो यत्न किया जाता है उसे 'प्रयत्न' कहते हैं। अभी-प्सित फल की प्राप्ति की आशा संभावना को 'प्राप्त्याशा' कहते हैं, यद्यपि इसमें विफलता की आशंका भी बनी रहती है। 'नियताप्ति' में अन्तिम फल की प्राप्ति के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से निश्चय हो जाता है। जहाँ फल की प्राप्ति हो जाती है वहॉ 'फलागम' नामक कार्यावस्था होती है।

नाटक-रचना में वस्तु ही के अंतर्गत अन्तिम प्रधान फल की ओर अग्रसर करने वाले पाँच चमत्कारपूर्ण अंश या कथावस्तु के तत्व या कार्य-सिद्धि के हेतु या उपाय या साधन माने गए है—१. बीज, २. विन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी और ५. कार्य। उन्हे 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं। जिस प्रकार बीज मे फल छिपा रहता है, उसी प्रकार 'बीज' में नाटक का 'फल' छिपा रहता है। कथाभाग का मुख्य कारण या हेतु जिससे अनेक कार्य उत्पन्न होते हैं और जो क्रम से विस्तृत होता जाता है, उसे 'बीज' कहते हैं। समाप्त होने वाली एक कथा को जो बात निमित्त होकर आगे बढ़ाती है उसे 'विन्दु' कहते हैं। यह एक प्रकार से प्रधान कथा के विस्तार का द्योतक है। प्रधान फल का सिद्ध करने वाला प्रासंगिक वृत्तांत 'पताका' कहलाता है। एक देशीय छोटी-छोटी बातों को 'प्रकरी' कहते हैं। पताका और प्रकरी में छोटी-छोटी अवातर कथाएँ होती हैं जो प्रधान कथा वस्तु को अंतिम फल तक ले जाने में सहायक होती है। वर्ण्य विषय के फल को 'कार्य' कहते है।

प्रधान कथा से सम्बन्धित जो दूसरी कथाएँ (अंग) होती हैं उन्हे युक्ति-पूर्वक एक दूसरी से मिला देने को 'संधि' कहते हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में 'पाँच' अवस्थाओं के योग से अर्थ-प्रकृतियों के रूप में विस्तारी कथानक के पाँच अंश हो जाते हैं और एक ही प्रधान प्रयोजन के साधक उन कथाओं का मध्यवर्ती किसी एक प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होने को 'सन्धि' कहते हैं। सन्धियॉ कार्यावस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों के योग से उत्पन्न नाटकीय कथा के चमत्कार-पूर्ण विभागों का निदर्शन कराती है। सन्धियाँ पॉच प्रकार की होती हैं—१. मुख २. प्रतिमुख ३. गर्भ ४. विमर्श या अवमर्श और ५. निर्वहण। किसी कथा की आरम्भ नामक अवस्था और बीज नामक अर्थ प्रकृति के योग से जब अनेक अर्थ और रस व्यंजित होते हैं तो वह मुख-सन्धि है। तीनों बातें एक ही अर्थ की सिद्धि करती है—एक में कार्य-व्यापार का, दूसरे मे वस्तु का और तीसरे मे नाटक-रचना का ध्यान रखा गया है। जहाँ मुख-सन्धि मे दिखलाए गए बीज का निदर्शन अंकुरित होता हुआ दिखाई देता है, अर्थात् जहॉ बीज का निदर्शन कुछ-कुछ प्रकट और कुछ-कुछ अप्रकट रीति से रहता है उसे 'प्रतिमुख सन्धि' कहते हैं और इसमे 'प्रयत्न' नामक कार्यावस्था और बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति की श्रृंखला रहती है। 'प्रतिमुख सन्धि' में अंकुरित हुए बीज का किसी कारण लोप हो जाना, परन्तु फिर उसके ढूँढ़ने के लिए प्रयत्न करना 'गर्भ सन्धि' का लक्षण है। इसमें प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था और पताका नामक अर्थ-प्रकृति रहती है। गर्भ-सन्धि की अपेक्षा बीज के अधिक विस्तृत होने पर जब फल-प्राप्ति

की आशा मे भय आदिक विघ्न आते है तो 'विमर्श-सन्धि' होती है। इसमें नियताप्ति नामक कार्यावस्था और प्रकरी नामक अर्थ-प्रकृति का योग रहता है। किन्तु गर्भ और अवमर्श सन्धियों मे पताका और प्रकरी का प्राप्त्याशा और नियताप्ति से योग नितान्त आवश्यक नही है। जिसमे सब सन्धियो मे वर्णन की गई बातों का मेल मिल जाता है और अन्तिम प्रधान फल की प्राप्ति हो जाती है उसे 'निर्वहण सन्धि' कहते है। निर्वहण सन्धि को उपसंहृत सन्धि भी कहा गया है। इसमे फलागम नामक कार्यावस्था और कार्य नामक अर्थ-प्रकृति आती है।

नाटको में पात्रों का नियमन एक कठिन कार्य है। जो लोग किसी का रूप धारण कर कथित अवस्था का अनुकरण करते है, उन्हे पात्र कहते है। पात्र-निर्माण सजीव और व्यक्तित्व से पूर्ण होना चाहिए। प्रत्येक पात्र के कार्य और कथन मे जब एक सूत्रता पाई जाती है तभी उसमें सौन्दर्य उत्पन्न होता है। नाटककार को कार्य के अनुसार पात्र की कल्पना करनी चाहिए, न कि पात्र के अनुसार कार्य की। प्रत्येक पात्र का कार्य उसके अनुरूप ही रखने का नियम माना गया है। राम मे छल-कपट, परशुराम मे दया और कण्व ऋषि का फूट-फूट कर रोना बेतुका और अवाछनीय है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र मे पात्रों के अनेक भेद माने गए है। किन्तु मुख्य-मुख्य भेदों का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

रूपक अथवा उपरूपक में वर्णन की गई वस्तु के फल का जो भोक्ता होता है उसे नायक और समस्त कथा का अंगी कहते है। उसमे अनेक गुण माने गए हैं। नायक या नायिका जानने का यही साधन है कि हम देखें कि प्रधान फल किसके हाथ है। कुलानुसार नायक के तीन भेद माने गए हैं—

१. दिव्य—देवता।

२. अदिव्य—मनुष्य।

३. दिव्यादिव्य—मनुष्य रूपी देवता।

स्वभाव के अनुसार नायकों के चार भेद हैं—

१. धीरोदात्त—क्षमाशील, गम्भीर, गर्वहीन, हर्ष-शोक मे सम, जो अपनी प्रशंसा स्वयं नही करता—यथा राम, युधिष्ठिर।

२—धीरोद्धत—गर्विष्ठ, बलवान्, आत्मश्लाघी, धृष्ट, कभी-कभी कपट करने-वाला—यथा, भीमसेन।

३. धीर-ललित—चतुर, विनोदशील, विलासप्रिय, गाने-बजाने से प्रीति रखनेवाला, अनेक प्रकार की कलाओं मे निपुण—यथा, श्रीकृष्ण।

४. धीर-प्रशान्त—ऊपर कहे गए विशेष गुण जिसमें नही होते, सामान्य सभ्य मनुष्य के योग्य गुण—यथा, माधव ('मालती-माधव' मे)।

इसके अतिरिक्त श्रृंगार रस और स्त्रियों के साथ व्यवहार के आधार पर भी नायक के चार भेद माने गए है :—

१. दक्षिण—एक से अधिक नायिकाएँ, नवीन प्रेम में अनुरक्त होने पर भी प्रधान महिषी का आदर और सबसे समान प्रेम रखनेवाला।

२. अनुकूल—एक-पत्नी-व्रत।

३. शठ—एक ही नायिका में अनुरक्त होते हुए भी छिपे-छिपे अन्य नायिकाओं से प्रेम करनेवाला। यह निर्लज्ज नही होता।

४. धृष्ट—निर्लज्ज और खुले-खुले विप्रिया चरण करने वाला।

जिस प्रकार नायक के अनेक भेद हैं उसी प्रकार नायिका के भी। हमारे यहाँ नायिका-भेद का अत्यधिक विस्तार हुआ है—स्वाधीनपतिका, खंडिता, कलहान्तरिता आदि अनेक भेदोपभेद है। अपने विषय से सम्बन्धित मुख्य भेद इस प्रकार हैं—
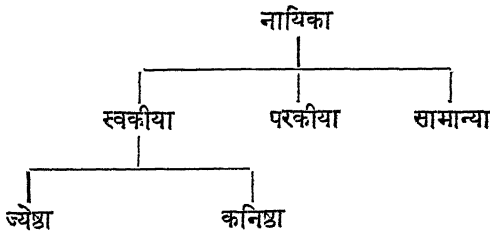
ज्येष्ठा बड़ी और कनिष्ठा छोटी नायिका को कहते हैं। स्वकीया, परकीया और सामान्या के अन्य अनेक भेदोपभेद होते हैं। पात्र कल्पना के अन्तर्गत उपनायक, विट्, चेट, पीठमर्द, नटी, विदूषक आदि की गणना की जाती है जिन पर यहाँ विचार करना आवश्यक नही है।

'चन्द्रावली' नाटिका के सम्बन्ध में वृत्तियों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। रसको उत्पन्न करने वाला नायक और नायिकाओं का जो व्यापार, विलास अर्थात् बोलचाल, उठने-बैठने, चलने-फिरने आदि का जो ढंग होता है उसे वृत्ति कहते है। नायक-नायिका प्रायः शान्त, उग्र या मृदु स्वभाव के होते हैं। अतएव अपने स्वभाव के अनुसार वे जो चेष्टा करते हैं वही वृत्ति है। नाट्यशास्त्र में इन वृत्तियों का अत्यन्त महत्व है और ये एक प्रकार से नाटकीय शैलियाँ

हैं। वृत्ति ही से नाटक में रस उत्पन्न होता है। उसके चार भेद हैं[१]—१. कैशिकी २. सात्त्वती ३. आरभटी और ४. भारती। जिस वृत्ति का नृत्य, गीत आदि शृङ्गार और हास्य युक्त सामग्री से सम्बन्ध रहता है, जिसमे स्त्रियो की अधिकता रहती है, जिसमे नायक-नायिका के विलास-वर्द्धक व्यापारों का वर्णन रहता है उसे 'कैशिकी' वृति कहते है। यह अत्यन्त आनन्ददायक प्रणाली मानी गई है। कैशिकी का जन्म सामवेद से माना जाता है। उसके चार भेद होते है—१. नर्म, २. नर्मस्फूर्ज ३. नर्मस्फोट और ४. नर्मगर्म। 'नर्म' में प्रिय को प्रसन्न करने वाली परिहासपूर्ण क्रीड़ा रहती है, किन्तु हास्य शिष्ट हो और उससे प्रिय को पीड़ा नहीं पहुँचनी चाहिए। 'नर्म' के भी हास्य-नर्म, शृङ्गार-नर्म, भय-नर्म आदि छः भेद होते हैं। नायक नायिका के प्रथम सम्मिलन का सुख से आरम्भ होना तथा भय से अन्त होना 'नर्मस्फूर्ज' कहलाता है। थोड़े भावों से सूचित अल्प रस को 'नर्मस्फोट' कहते है और 'नर्मगर्म' में नायक का गुप्त व्यवहार रहता है। 'सात्त्वती' वृत्ति में वीरता, शौर्य, दया, दाक्षिण्य आदि का वर्णन ही अधिक रहता है। शृङ्गार रहता तो है, किन्तु बहुत कम। नायक आदि का व्यापार इसमे उत्साहवर्द्धक दिखाया जाता है। उसमें वीर रस प्रधान रहता है, किन्तु रौद्र और भयानक रसों का पुट भी रहता है। उत्थापक, संलापक, साघात्य और परिवर्त्तक, ये उसके चार भेद किंवा अग है। 'सात्त्वती' का जन्म यजुर्वेद से माना जाता है। 'आरभटी' में युद्ध, वध, माया, मारपीट, इन्द्रजाल, क्रोध, आघात, प्रतिघात, बन्धनादि विविध रौद्रोचित कार्यजड़ित व्यापार रहते हैं। इस वृत्ति का जन्म अथर्ववेद से माना जाता है और वह भी चार प्रकार की होती है—१. वस्तूत्थापन २. सफेट ३. सक्षिप्ति और ४. अवपात। 'भारती' वृत्ति मे मनोहर और कर्णसुखद बातें रहती हैं। उसमे भाषा परिमार्जित रखी जाती है। संस्कृत रूपकों मे जहाँ प्राकृत भाषा का प्रयोग कम और संस्कृत विशेष रूप से रहती है वहाँ 'भारती' वृत्ति मानी जाती है। यह भी कहा गया है कि इस वृत्ति में स्त्रियाँ न रहकर केवल नट या भरत रहते हैं, इसलिए यह वृत्ति 'भारती' कहलाई। पडितराज जगन्नाथ के अनुसार इस वृत्ति में सब रस आ सकते हैं। भरत मुनि उसमे केवल करुण और अद्भुत ही मानते हैं। भारतेन्दु के अनुसार वीभत्स रस-पूर्ण वर्णन-स्थल में वह व्यवहृत होती है। उसका जन्म ऋग्वेद से माना जाता है। प्ररोचना, बीथी, प्रहसन और आमुख ये 'भारती' के चार भेद हैं।

---

१. शृंगारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥
—'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक १२२।

वास्तव में पहली तीन वृत्तियाँ क्रमशः शृङ्गार, वीर और रौद्र की पोषक है और 'भारती' सब रसों में काम आती है।[१]

भारतीय नाट्य-शास्त्र में अभिनय चार प्रकार का माना गया है—१. आंगिक २. वाचिक ३. आहार्य और ४. सात्विक। आंगिक—अंग-भंगी द्वारा अभिनय। वाचिक—वाक्य-विन्यास या वाणी द्वारा अभिनय। आहार्य—वेष, भूषणादि निष्पाद्य अभिनय। सात्विक—स्तंभ, स्वेद, रोमाच, कंप, अश्रु, हँसना प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण।

दृश्य काव्य की भाषा परिष्कृत और परिमार्जित होनी चाहिए ताकि दर्शक का चित्त प्रसन्न हो जाय। भारतवर्ष मे इस नियम का पालन दृढ़तापूर्वक किया गया है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक की साधारण बाते गद्य में लिखी जानी चाहिए। किन्तु जहा किसी वस्तु का वर्णन हो, अथवा किसी अद्‌भुत बात का या सुन्दर भाव का वर्णन करना हो वहाँ पद्य-प्रयोग करना उचित माना गया है। संस्कृत नाटको मे पात्रों की योग्यता के अनुसार संस्कृत अथवा प्राकृत बोलने का नियम रखा गया है। नायक, सूत्रधार और अन्य शिक्षित एवं उच्च स्थिति वाले पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं; स्त्रियाँ, सेवक आदि प्राकृत का, प्रारंभ में हिन्दी मे इस नियम में कुछ परिवर्तन कर नाटककारों ने क्रमशः खड़ी बोली हिन्दी और ब्रजभाषा या अवधी का प्रयोग किया। किन्तु आधुनिक समय में, जब कि सभी को शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ हैं इस प्राचीन नियम का पालन नहीं किया जा सकता।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक के अंत में 'भरत-वाक्य' रहना चाहिए। हमारे आचार्यों का यह मत रहा है कि किसी वस्तु का अंत दुःख मे न हो। उनका नियम मंगल से आरंभ और मंगल से ही अंत करना है। नाटक को दुःखांत रखना नायक की पराजय प्रदर्शित करना होगा जो भारतीय आदर्श के अनुरूप नहीं है। इसीलिए हमारे यहाँ नाटकों के प्रारंभ में मंगलात्मक नादी रहता है। रूपक या उपरूपक के अंत मे भी मंगल वाक्य या प्रार्थना रहती है जिसे 'भरत-वाक्य' कहते है। उसमें 'भरत' शब्द संभवतः नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत का बोधक है।

'श्रीचन्द्रावली' नाटिका

कहा जाता है कि अपने बनाए हुए नाटकों मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली' और 'भारतदुर्दशा' ही सर्वाधिक प्रिय थे। 'सत्य हरिश्चन्द्र'

---

१. 'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक १२२

और 'चन्द्रावली' को हिन्दी की टकसाल भी कहा गया है। 'चन्द्रावली' को तो साहित्य-प्रेमियों ने इतना अधिक पसंद किया कि भरतपुर के राजा राव श्रीकृष्ण देवशरण सिंह ने पूर्ण रूप से उसका ब्रजभाषा मे रूपान्तर और पंडित गोपालशास्त्री उपासनी ने संस्कृत में अनुवाद किया।

"'चन्द्रावली' नाटिका की रचना प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार हुई है। वह नाटिका के लगभग सभी लक्षणों से समन्वित है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटिका उपरूपक का पहला भेद है। 'नाटिका' की **कथा कवि-कल्पित** होती है। **इसमें चार अंक** होते है। **अधिकांश पात्र स्त्रियाँ** होती हैं। **नायक धीर-ललित राजा** होता है। रनिवास से संबंध रखनेवाली या **राजवंश की कोई गायन-प्रवीणा अनुरागवती कन्या नायिका** होती है। **महारानी के भय से नायक राजा अपने प्रेम में शंकित** रहता है। महारानी राजवंश की प्रगल्भा नायिका होती है। वह पद-पद पर मान करती है। **नायक और नवीन नायिका का सम्मिलन उसी के अधीन रहता है**। नाटिका में प्रधान **रस श्रृंगार** होता है। **कैशिकी वृत्ति के भिन्न रूपों का क्रमशः चारों अंकों में पालन** किया जाता है। विमर्श संधि या तो होती ही नहीं या बहुत कम होती है, शेष चारों संधियाँ होती हैं।"[१] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' में यह भी लिखा है कि नाटिका की नायिका कनिष्ठा होती है अर्थात् नाटिका के नायक की पूर्व-प्रणयिनी के वश मे रहती है। वास्तव में नायक अपनी जेठी स्त्री के डर से, शंकित होने के कारण उससे यथेच्छ नही मिल सकता। नाटिका के इन लक्षणों के प्रकाश मे 'चन्द्रावली' का अध्ययन करने से हमे यह ज्ञात हो जाता है कि भारतेन्दु ने उसकी रचना प्राचीन सिद्धान्तो के ही अनुसार की है। 'चन्द्रावली' की कथा कवि-कल्पित है। कथा मूलतः पौराणिक है और 'भागवत' तथा 'सूरसागर' में चन्द्रावली का सखी के रूप मे उल्लेख मिलता है।

---

१. नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा॥
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः संधयः पुनः॥

—'साहित्यदर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक २६९-२७२

किन्तु जो कथा-विस्तार इस नाटिका में है वह भारतेन्दु की अपनी कल्पना की उपज है। उसमें अक भी चार हैं और प्रायः सभी स्त्री-पात्र है। विष्कभक के अतर्गत शुकदेव और नारद अवश्य आते हैं, किन्तु उनका संबंध प्रधान कथा-वस्तु से नही है। चौथे अक मे भगवान् कृष्ण भी पहले जोगिन के वेष मे ही आते है। श्रीकृष्ण धीर-ललित नायक हैं। श्रृंगार की दृष्टि से वे दक्षिण नायक हैं। लेखक ने चन्द्रावली और कृष्ण की आसक्ति का वर्णन किया है। चन्द्रावली नायिका है। वह राजा चन्द्रभानु की बेटी और गाने-बजाने में प्रवीण है। यदि राधा 'प्यारी जू' या 'प्रियाजू' या स्वामिनी हैं अर्थात् ज्येष्ठा हैं तो चन्द्रावली 'छोटी' स्वामिनी' है अर्थात् कनिष्ठा है और ज्येष्ठा का डर बराबर बना रहता है। नारद जी भी कहते हैं—'कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु, सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमतीजी का भी भय है...'। श्रीकृष्ण और चन्द्रावली के मिलन के लिए 'प्यारी जू' का मनाया जाना आवश्यक है। कृष्णजी भी 'प्यारी जू' के डर से चन्द्रावली से नहीं मिल पाते। तृतीय अंक मे माधवी 'लालजी' की ओर सकेत करते हुए कहती भी है—'सखी, वेऊ का करैं। प्रिया जी के डर सों कछू नहीं कर सकैं।' अन्त मे उन्ही की आज्ञा से श्रीकृष्ण और चन्द्रावली का मिलन होता है—'स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सों कही दै चन्द्रावली की कुंज मैं सुखेन पधारौ।' नाटिका मे प्रधान रस श्रृगार है—प्रारंभ मे वियोग, अंत में संयोग। कैशिकी वृत्ति के भिन्न-भिन्न रूपों का क्रमशः चारो अंकों में प्रयोग हुआ है। ज्येष्ठा के मान का प्रत्यक्ष वर्णन तो नहीं है। किन्तु एक तो यह आवश्यक नहीं कि छोटे-से छोटे लक्षण का पालन किया जाय, दूसरे सखियों के इस प्रकार के कथन से—'ये दोऊ फेर एक की एक होयँगी', अथवा स्वामिनी से चुगली खाने की बात के उल्लेख से इस बात की ध्वनि निकलती है कि चन्द्रावली और कृष्ण का प्रेम राधा के वश मे है।

'चन्द्रावली' में नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी अन्य विशेषताओं का उल्लेख 'प्राचीन नाट्य-शास्त्र' शीर्षक के अंतर्गत पीछे हो चुका है। जहाँ मुँह फेर कर संवाद हुआ है उन स्थलों पर 'अपवारित' है! अत में जहाँ चन्द्रावली 'परमारथ स्वारथ दोउ कहँ......'—कहती हैं वहाँ 'भरत-वाक्य' है। प्रारंभ में आनेवाले 'विष्कंभक' के संबध मे प्रायः आपत्ति की जाती है और उसे दोषपूर्ण बताया जाता है। किन्तु वह शास्त्रीय सिद्धान्त के नितान्त अनुरूप है। उसमें लेखक ने शुकदेव और नारद के कथोपकथन द्वारा विषय और सिद्धान्त निरूपण किया है जो स्पष्टतः नाटिका के प्रधान अंश में स्थान नही पा सकता था। शुकदेव और नारद के फिर दर्शन होना भी आवश्यक नही है।

कथानक—'चन्द्रावली' नाटिका की कथा चार अंकों में विभाजित है। विष्कंभक के बाद प्रथम अंक मे चन्द्रावली और सखियों के वार्तालाप से चन्द्रावली का कृष्ण के प्रति उत्कट अनुराग प्रकट होता है। द्वितीय अंक मे चन्द्रावली उपवन मे सखियों से विरह-वर्णन और विरहोन्माद मे प्रलाप करती है। इस अंक के अंतर्गत अंकावतार मे कृष्ण के नाम 'चन्द्रावली की पाती' का उल्लेख है। तृतीय अंक मे विरहकातरा चन्द्रावली और उसकी सखियों में बातचीत होती है, चन्द्रावली अपने अलौकिक प्रेम का संकेत देती है और सखियाँ मिलन का उपाय ठीक करती हैं। इसी अंक मे वर्षा और झूले का उद्दीपन-रूप में सुन्दर वर्णन है। चतुर्थ अंक मे जोगिनी का वेष धारण कर श्रीकृष्ण आते है और स्वामिनी जी की आज्ञा से श्रीकृष्ण और चन्द्रावली का मिलन स्थापित होता है। वास्तव मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कथावस्तुओ की प्रमुख विशेषता है प्रेम। यह प्रेम स्त्री-पुरुष के व्यक्तिगत प्रेम, ईश्वर-प्रेम, सत्य-प्रेम और देश-प्रेम के रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। 'चन्द्रावली' मे ईश्वर-प्रेम या अलौकिक प्रेम प्रकट हुआ है और उसमे भारतेन्दु का निजी जीवन प्रतिबिंबित है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कथा का आधार पौराणिक है भागवत मे केवल नामोल्लेख है। 'पद्मपुराण' मे भी उसका उल्लेख सखी के रूप मे हुआ है। 'सूरसागर' के दशम स्कंध मे चन्द्रावली का प्रेमिका के रूप मे उल्लेख हुआ है और वह विरह तथा संयोग दोनों का ही अनुभव करती है। उदाहरण के लिए :—

'चन्द्रावली स्याम-मग जोवति।
कबहुँ सेज कर झारि सँवारति, कबहुँ मलय-रज भोवति ॥
कबहुँ नैन अलसात जानि कै, जल लै पुनि पुनि धोवति ॥
कबहुँ भवन, कबहुँ आँगन है, ऐसै रैनि बिगोवति ॥
कबहुँक बिरह जरति अति व्याकुल, आकुलता मन मोवति ॥
सूर स्याम बहु-रवनि-रवन पिय, यह कहि-कहि गुन तोवति ॥'

अथवा

'चन्द्रावलि-धाम स्याम भोर भएँ आए।
इत रिस करि रही बाम, रैनि जागि चार जाम,
देख्यौ जो द्वार स्याम, ठाढ़े सुखदाए ॥
मंदिर तै रही निहारि, मनहीं मन देति गारि, ऐसे
कपटी, कठोर, आए निसि बीते।
रिस नहीं सकी सम्हारि, बैठि चढ़ि द्वार वारि ठाढ़े,
गिरधारि निरखि, छबि नख सिख ही तैं ॥' आदि

अथवा

'चन्द्रावली हरष सौं बैठी, तहाँ सहचरी आई (हो)।
औरै बदन, और अँग-सोभा, देखि रही चख लाई (हो)॥
कहा आजु अति हरषित बैठी, कहा लूटि सी पाई (हो)।
क्यौ अँग सिथिल, मरगजी सारी, यह छबि कही न जाई (हो)॥
मो सौं कहा दुराव करति है, कहा रही सिर नाई (हो)।
मै जानी तोहि मिले सूर-प्रभु, जसुमति-कुँवर कन्हाई (हो)॥'

चन्द्रावली की सखि का कथन है :—

'हा हा कहि चन्द्रावलि मो सौ, हरि के गुन मैं हूँ सुनि लेहुँ।
स्रवननि मग सुनि हृदय प्रकासौं, पुनि-पुनि री तोहि उत्तर देउँ॥

× × ×

सूर स्याम जो चरित उपायौ, कहन चहौं मुख कह्यौ न जाइ॥'

आदि, आदि!

किन्तु वह प्रधानतः उत्पाद्य या कल्पित कथावस्तु है। उन्होंने अपनी कल्पना के योग से वस्तु-चयन मे मौलिकता प्रकट की है और कथा-संघटन भी स्वतंत्र रूप में हुआ है। कथा-वस्तु अत्यन्त सरल गति से विकसित होती हुई अपने अंतिम ध्येय तक पहुँच जाती है। उसमे कथा-वैचित्र्य का अभाव है। समानगति से चलने के कारण उसका प्रभाव मन्द अवश्य पड़ जाता है, किन्तु उसकी पूर्ति कथा की रसात्मकता से हो जाती है। यह रचना प्रेम-रस से परिपूर्ण है। कुछ आलोचकों का तो यहाँतक कहना है, कि हिन्दी साहित्य मे महात्मा सूरदास के अतिरिक्त अन्य कोई कवि प्रेम का ऐसा उत्तम वर्णन करने मे समर्थ नही हुआ। चन्द्रावली का पूर्वानुराग ही क्रमशः प्रेम मे परिणत हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चन्द्रावली के प्रेम, विरह और मिलन द्वारा उस प्रेम का वर्णन किया है जो इस संसार में प्रचलित नही है। सपूर्ण कथावस्तु का संघटन 'प्रेम, विरह तथा मिलन तीन ही शब्दो में हुआ है।' कथावस्तु में शाखा-प्रशाखाएँ नहीं है, इससे आधिकरिक कथावस्तु जटिल नही होने पाई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की इस नाटिका मे कथावस्तु का अधिकाश प्रारम्भिक परिचय, परिचय के विकास और चरम सीमा के अंतर्गत समाप्त हो जाता है। चरम सीमा के तुरंत बाद ही कथा का उतार एकदम होकर शीघ्रता के साथ उसका अंत हो जाता है और अंतिम फल की प्राप्ति हो जाती है। कार्य की प्रगति मे कुछ स्थलो को छोड़कर अस्वाभाविक घटनाओं का उल्लेख नही के बराबर है। भारतीय नाट्य-पद्धति के अनुसार कथावस्तु का छोटे-बड़े अंकों मे विभाजन करने की दृष्टि

से भारतेन्दु ने स्वच्छन्दता का परिचय दिया है। कथानक मे कार्य-व्यापार की कमी होते हुए भी रोचकता और रमणीयता है। उसमें काव्य का-सा आनन्द आता है और शैथिल्य बहुत कुछ दूर हो जाता है। 'चन्द्रावली' का कथानक घटना-प्रधान न होकर भावना-प्रधान है। बाह्य, द्वन्द्व तो उसमे नही के बराबर है। प्रारम्भ मे लेखक मुख्य परिस्थिति से परिचित कराकर हमारी उत्सुकता बढ़ाता है। 'चन्द्रावली' के कथानक में नीरसता कहीं नही है। उसमे भारतेन्दु के जीवन की स्वाभाविक तरगे है, स्वाभाविक उल्लास है।

नाटिका की सारी वस्तुस्थिति का विभाजन चार अंकों मे इस प्रकार किया गया है कि विभिन्न कार्यावस्थाओ, अर्थ-प्रकृतियों और संधियो का सुन्दर निर्वाह हुआ है। प्रथम अंक में ललिता और चन्द्रावली के वार्तालाप द्वारा चन्द्रावली के प्रेम का परिचय प्राप्त होता है। यह अंक परिचयात्मक है और इसमे चन्द्रावली और उसकी सखी की मौलिक विशिष्टताओ, कुल-शील, मनोवृत्ति आदि का उल्लेख हुआ है। अन्त मे 'प्रेमियो के मण्डल को पवित्र करनेवावली' चन्द्रावली अपना प्रेम छिपाना चाहती है, किन्तु छिपा नहीं. पाती। उस निष्ठुर की छबि भूल नही पाती और उससे ललिता कहतो है—'जो तेरी इच्छा हो, पूरी करने को उद्यत हूँ।' यहॉ पर नाटक के अन्तिम फल का सकेत है और यह 'आरम्भ' नामक कार्यावस्था है। द्वितीय अंक मे 'प्रयत्न' नामक कार्यावस्था है। चन्द्रावली अपने 'निरमोही' प्रियतम को 'मोह' की याद दिलाकर उससे 'प्रकट होने', 'मुँह दिखाने' को कहती है और स्वयं उसे प्राप्त करने के प्रयत्न मे 'बावरी सी डौलै है'। इस अक के अन्तर्गत अंकावतार मे कृष्ण के नाम 'चन्द्रावली की पाती' का भी उल्लेख है जो प्रयत्नावस्था का ही द्योतक है। चन्द्रावली का प्रेम तीव्र हो जाता है ओर विरहोन्माद मे प्रलाप करती तथा उस लोक-बन्धन को तोड़ डालती है जिसकी ओर प्रथम अंक के अन्त मे संकेत है। इस प्रकार प्रधान कथा और आगे बढ़ती है। तृतीय अंक मे प्राप्त्यशा नामक कार्यावस्था है। इस अक में यद्यपि सखियों के प्रयत्न के फलस्वरूप चन्द्रावली और श्रीकृष्ण के मिलन की सम्भावना होती है, तो भी कामिनी का यह कथन—'हॉ, चन्द्रावली बिचारी तो आप ही गई बीती है, उसमें भो अब तो पहरे में है, नजरबन्द रहती है, झलक मी नहीं देखने पाती···' विफलता की आशका उत्पन्न करता है। चतुर्थ अंक में एक ओर तो श्रीकृष्ण चन्द्रावली की दीनहीन दशा देखकर द्रवीभूत होते हैं और उनसे नही रहा जाता, उनके सभी अग मिलने को व्याकुल हो जाते हैं, और दूसरी ओर चन्द्रावली का वामॉंग भी फड़कने लगता है जो शुभ चिन्ह है। आगे चलकर वह यह भी कहती है—'हाय! प्राणनाथ

कहीं तुम्हीं तो जोगिन नहीं बन आए हो' और इन सब कारणों से सफलता निश्चित हो जाती है। अतएव यहाँ 'नियताप्ति' नामक कार्यावस्था है। चतुर्थ अंक के अन्त मे जब चन्द्रावली अपने 'पीतम' को पा लेती है और वे गलबाही दे बैठते है तो यह नाटक की अन्तिम उद्देश्य की सिद्धि है और इसलिए 'फलागम' नामक कार्यावस्था है।

कार्यावस्थाओं के साथ-साथ अर्थ-प्रकृतियों का विनियोग भी होता गया है। प्रथम अंक में जहाँ ललिता कहती है—'सखी ! तू धन्य है, बड़ी भारी प्रेमिन है और प्रेम शब्द को सार्थ करनेवाली और प्रेमियों की मंडली की शोभा है।' यहाँ 'बीज' नामक अर्थ-प्रकृति स्थापित होती है। नाटिका की आगे की व्यापार-श्रृंखला में इसी का विस्तार होता जाता है। प्रेम की सार्थकता के लिए सब व्यापार किए गए हैं। द्वितीय अक मे 'बिन्दु' नामक अर्थ-प्रकृति है, क्योंकि यहाँ चन्द्रावली के प्रेम की प्रधान कथा अविच्छिन्न रूप मे बनी रह कर विस्तृत होती है। तृतीय अंक मे वर्षा-वर्णन और झूला-वर्णन 'पताका' और 'प्रकरी' के रूप में हैं, क्योंकि उनसे चन्द्रावली के प्रेम को अधिकाधिक उद्दीपन प्राप्त होता है और वे प्रधान कथा-वस्तु को अंतिम फल की ओर ले जाने में सहायक होते हैं। चन्द्रावली कहती भी है—'हा ! इन बादलों को देखकर तो और भी जी दुखी होता है।' चतुर्थ अंक मे कथा के अन्तिम अंश मे 'कार्य' नामक अर्थ-प्रकृति है।

'बीज' नामक अर्थ-प्रकृति के साथ-साथ प्रथम अक में जहाँ चन्द्रावली से ललिता यह कहती है—'सखी, मैं तो पहिले ही कह चुकी कि तू धन्य है। संसार मे जितना प्रेम होता है··तू प्रेमियों के मंडल को पवित्र करने-वावी है।' वही मुख-संधि का आरंभ मानना चाहिए। यही निश्चय का बोध होता है कि आगे क्या क्रम चलेगा। द्वितीय अंक में 'प्रतिमुख' नामक संधि है, क्योंकि फिर तो मुख-संधि मे दिखलाए हुए बीज का लक्ष्य-अलक्ष्य रूप से उद्भेद प्रारम्भ हो जाता है। चन्द्रावली का विरहोन्माद और बनदेवी संध्या तथा वर्षा की सहानुभूति बीज के लक्ष्यालक्ष्य उद्भेदक ही हैं। तृतीय अंक में चन्द्रावली की दशा देखकर, उसे 'नजरबन्द' देखकर फल-प्राप्ति मे आशका उत्पन्न होती है और सखियों के प्रयत्नों को देखकर आशा का उदय होने लगता है। यह अवस्था अंक के अन्त तक है, अतएव वहीं 'गर्भ' सन्धि की समाप्ति माननी चाहिए। चतुर्थ अंक मे चन्द्रावली का मूर्च्छित हो जाना और इस बात की आशङ्का कि यदि स्वामिनी ने आज्ञा न दी तो क्या होगा, इन विघ्नों की आशंका से 'विमर्श' सन्धि उत्पन्न होती है, किन्तु क्षीण रूप मे। मूर्छा से आगे तो

'निर्वहण' सन्धि आरम्भ हो जाती है, क्योंकि ललिता कहती है—'सखी बधाई है लाखन बधाई है। ले होश मे आ जा। देख तो कौन तुझे गोद मे लिए है।' इस प्रकार उत्तरोत्तर फल-प्राप्ति समीप आने लगती है और अन्त मे 'स्वामिनी जू' की आज्ञा भी प्राप्त हो जाती है और जुगल स्वरूप गलबाही दे बैठते हैं।

'चन्द्रावली' के वस्तु-विन्यास में एक सौंदर्य यह भी है कि उसमें भारतीय नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के घटित होने के अतिरिक्त पाश्चात्य पद्धति के अनुसार समय, स्थान और कार्य-सम्बन्धी संकलनत्रयी का भी अच्छा निर्वाह हुआ है। सारी कथावस्तु का सम्बन्ध एक स्थान और समय से और उसमे एक ही कार्य की प्रधानता है।

'चन्द्रावली' की कथा एक अनुपम काव्यात्मक प्रेमाख्यान है। चन्द्रावली के प्रेम मे हृदय की समस्त मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के साथ अनुराग है जो ससार को स्पर्श करते हुए भी उससे परे है। प्रकृति के साहचर्य से उस अनुराग मे और भी तीव्रता उत्पन्न की गयी है। प्रकृति को जीवन का पूरक मानकर हृदय की सात्विकता के उन्मेष के लिए प्रकृति का साहचर्य उपयुक्त समझा गया है। यही कारण है कि योगिनी-रूप श्रीकृष्ण और चन्द्रावली के मिलन से यमुना की शोभा का वर्णन कर एक पवित्र वातावरण उत्पन्न किया गया है। इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हृदयगत अनुराग को प्रकृति के रेखाचित्र मे अंकित कर घटना को अलौकिक रूप दिया है और उसमे समस्त रागात्मक अनुभवों का स्पष्टीकरण किया है जो पुष्टिमार्ग की साधना में पूर्ण रूप से घटित होते हैं; क्योंकि श्रीकृष्ण का अनुग्रहपूर्वक मिलन परिणाम है और उससे चन्द्रावली मुक्त होती है। यह रागात्मक अनुभव दाम्पत्य प्रेम की दिशा में विकसित हुआ है जिसमें आत्म समर्पण की पूर्ण भावना है। लौकिकता के क्षेत्र से उसका वही तक सम्बन्ध है जहाँ तक लोक-लाज और वंश-मर्यादा का भय है। इन बाधाओं का प्रतिकार करने पर प्रेम के प्रकट करने में कोई बाधा नही रह जाती। इसी भावना के अन्तर्गत मीरा का आत्मोत्सर्ग है। लोक-लाज की उपेक्षा ही आत्मिक प्रेम की सबसे बड़ी स्वीकृति है। उसी समय प्रेम भौतिक पद से ऊपर उठ जाता है। आत्म-समर्पण और आत्मोत्सर्ग की दृष्टि से चन्द्रावली अपने व्यक्तित्व तक को भुला बैठती है। यहाँ तक कि अपना परिचय भी प्रियतम के रूप में देने लगती है। यह अद्वैत भावना प्रेम की पराकाष्ठा है। इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रकृति का आश्रय लेकर रागात्मकता की परिणति अलौकिक अनुभूति के रूप में की है। साथ ही काव्य तत्व ने उनके दृष्टिकोण को और भी सौन्दर्य-पूर्ण बना दिया है। कोमल और स्निग्ध भावनाओं को संगीत का आश्रय मिला है जिससे भावनाओं को

और भी अधिक तीव्रता प्राप्त हुई है। 'चन्द्रावली' की कथा में अनुराग, प्रकृति और काव्य के सम्मिश्रण से भावनाओं के चित्र उभर आये हैं और यही उसका सौन्दर्य है।

रस—'चन्द्रावली' में श्रृंगार-रस प्रधान है, किन्तु सखियों के बीच वार्तालाप मे श्रृङ्गार पूर्ण हास्यरस भी है। यह 'कैशिकी' वृत्ति के अनुरूप ही है। प्रारम्भ मे नारद और शुकदेव के वार्तालाप मे शात रस है। चन्द्रावली और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम-भाव के कारण उत्पन्न रति स्थायी भाव है। श्रीकृष्ण आलम्बन और चन्द्रावली आश्रय है। सखियो का श्रृंगारपूर्ण वार्तालाप, वर्षावर्णन, हिंडोरा-वर्णन आदि उद्दीपन हैं। चन्द्रावली का अश्रु-वर्षण, पीतवर्ण उन्माद आदि अनुभाव हैं। नाटिका मे स्थायी भाव को पुष्ट करने वाले संचारी भी है। शास्त्रीय दृष्टि से तैंतीस संचारी माने गये हैं, किन्तु 'चन्द्रावली' मे उन सबका होना आवश्यक नहीं है। कुछ के उदाहरण यहाँ दिए जा सकते है। तीसरे अक में जहाँ चन्द्रावली कहती है—'अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो……' उग्रता नामक संचारी है। इसी अङ्क मे आगे चलकर 'देखि घन स्याम घनस्याम की सुरति करि……' मे स्मृति नामक संचारी है। चौथे अंक मे 'तू केहि चितवति चकित मृगि सी……' मे धृति नामक संचारी है अथवा आगे 'मन की कासों पीर सुनाऊँ…' में उन्माद नामक संचारी है। इसी प्रकार अन्य कई और उदाहरण भी ढूँढ़े जा सकते है। जैसा कि विशाखा ने चतुर्थ अङ्क के लगभग अन्त में कहा है, चन्द्रावली तो रस की पोषक ठहरी। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'चन्द्रावली' मे प्रेमरस माना है, किन्तु उसे हम श्रृंगार के अन्तर्गत रख सकते हैं।

श्रृङ्गार रस के दो भेद माने गए हैं—सयोग और वियोग। 'चन्द्रावली' में वियोग श्रृगार की प्रधानता है, संयोग चतुर्थ अंक के केवल अन्त में है। चन्द्रावली के नैन 'मोहन रंग रँगे हैं', उसकी याद से वह दुःखी हो उठती है, वह कितना चाहती है कि उसका ध्यान भुला दे, किन्तु 'उस निठुर की छबि नहीं भूलती' आदि बातों से यह स्पष्ट है कि कृष्ण के सौन्दर्य (प्रत्यक्ष दर्शन) और गुणों के देखने-सुनने (श्रवण-दर्शन) से उसमें पूर्वानुराग उत्पन्न होता है। वही क्रमशः प्रेम मे परिणत हो जाता है। और अन्त मे वह छिप नहीं पाता और विरह-कष्ट बढ़ता ही जाता है जिससे चन्द्रावली में विरह की सभी दशाएँ लक्षित होती है। उदाहरण के लिए अभिलाषा—'इतहू कबौं आइ कै आनन्द के घन, नेह को मेह पिया बरसाइए'; चिता—'प्रान बचै केहि भाँति न सों तरसैं जब दूर सों देखिबे कों सुख'; स्मरण—'बिछुरे पिय के जग सूनो……'अब लेखिए का' गुणकथन —'हरिचन्द जू हीरन को व्यवहार…उन आँखिन सों अब देखिए का'; उद्वेग

—'हमही अपुनी दशा जानैं सखी, निसी सोवती है किधौं रोवती है'; प्रलाप—'गोरज समूह घन······उदै भयौ': उन्माद—'अहो जमुना अहो खग मृग··· मनमोहन हरि' !; व्याधि—'मन माहि जो···बदनाम कियो'; जड़ता—इससे नेत्र ! तुम तो अब बन्द ही रहो'; मरण—'बिना प्रानप्यारे भए दरस·· खुली ही रह जायँगी ।' दूसरे अंक के अन्त मे मूर्च्छा का उदाहरण भी मिलता है। सखियों के हास्य मे भारतेन्दुजी ने अपने विनोदी स्वभाव का अच्छा परिचय दिया है। यह हास्य अत्यन्त शिष्ट और सुरुचिपूर्ण है। साथ ही हास-परिहास मे लीन इन सखियों पर रीतिकालीन नायिका भेद के कुछ लक्षण भी घटित हो जाते हैं। द्वितीय अङ्क मे स्वयं चन्द्रावली का चित्रण बहुत-कुछ रीतिकालीन नायिका के रूप मे हुआ है। चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चन्द्रावली की बैठक के सम्बन्ध मे जो सकेत दिये है (परदे, इत्रदान, पानदान आदि) वे भी रीतिकालीन नायिका के अनुरूप ही है। नायिका के कमरे की इस प्रकार की सजावट का उल्लेख रीतिकालीन रचनाओं मे प्रायः मिल जाता है। चन्द्रावली का रीतिकालीन नायिका के रूप मे चित्रण होने से भक्ति-भावना को आघात अवश्य पहुँचता है।

नाटिका मे अनुकृति प्रधान होनी चाहिए। किन्तु 'चन्द्रावली' की यह विशेषता है कि उसमे रस को प्रधान स्थान मिला है। काव्य-तत्व और रस की प्रमुखता होने के कारण कथोपकथन, वस्तु-संगठन और अभिनय की दृष्टि से उसमे दोष अवश्य उत्पन्न हो गए है; किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसकी पूर्ति उससे उत्पन्न रमणीयता से हो जाती है।

चरित्र-चित्रण—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अनूदित नाटकों मे तो पात्र-चयन की स्वतन्त्रता नही थी, किन्तु संयोगवश उनके अनूदित और मौलिक दोनों प्रकार के नाटकों मे मुख्य-मुख्य पात्र प्रायः उच्च वर्गों से संबंधित है। वे राजवंश के है अथवा समाज के शिक्षित और प्रतिष्ठित वर्ग के हैं। नाटक की नायिका चन्द्रावली राजकुल की तरुणी है, वह राजा चन्द्रभानु की बेटी है, और कृष्ण तो स्वयं पर ब्रह्म-स्वरूप है। चन्द्रावली साधारण स्तर से बहुत ऊँची उठी हुई स्त्री-पात्र है। भारतेन्दु ने उसका आदर्श-चित्रण किया है। उसमे अन्तर्द्वन्द्व भी नहीं है। चन्द्रावली भक्ति और प्रेम की आदर्श प्रतिमा है। उसकी एक इसी विशेषता पर भारतेन्दु ने अपना ध्यान केन्द्रित किया है, न कि उसके बहुमुखी व्यक्तित्व की ओर। प्रारम्भ में वह जिस आदर्श की ओर झुकी हुई दिखाई देती है उसी ओर वह अधिकाधिक बढ़ती चली आती है और अन्त में उसका गुण पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो जाता है। उसकी दैवी पवित्रता और उच्चता के सामने हम

नतमस्तक हो जाते है। चन्द्रावली के चरित्र मे अतिरंजना भले ही हो, किन्तु उसमें मनोवैज्ञानिक दुरूहता नही मिलती। कथानक के अनुकूल चन्द्रावली का चरित्र है और वह उसमे पूर्णतः खप जाता है, इसलिए स्वाभाविक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसकी जिन विशेपताओं को चित्रित किया है उनका सम्बन्ध हृदय से है और वे पाठकों मे आत्मशुद्धि और पवित्रता का संचार करती है। वास्तव में चन्द्रावली का प्रेम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व का ही एक पक्ष है। नाटिका में चन्द्रावली का चरित्र ही ध्यान देने योग्य है। श्रीकृष्ण तो स्वयं पर-ब्रह्म और सर्व-गुण-सम्पन्न है। 'श्रीमती की कोई बात ही नहीं, वे श्रीकृष्ण ही है, लीलार्थ दो हो रही हैं।' सखियॉ चन्द्रावली की सहायक है, उनमे चन्द्रावली के प्रति सच्ची भावना और स्त्रियोचित हास्य, चपलता और चातुर्य पाया जाता है। उन सब मे चन्द्रावली का प्रेम ही विलक्षण प्रेम है। उसका चरित्र-चित्रण श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग पर आधारित होकर हुआ है। वह कृष्ण के प्रति पूर्वानुराग द्वारा उत्पन्न विरह से पीड़ित है। वह कितना ही चाहती है कि उस निष्ठुर की छबि भूल जाय, किन्तु विरह निरन्तर बढ़ता ही जाता है। वह स्वयं सब कष्ट सहन करने लिए प्रस्तुत है। उसका प्रेम सच्चा और निष्काम है। वह प्रियतम के सुख मे अपना सुख मानती है। उसके प्रेम मे माहात्म्य-ज्ञान और प्रीति का सामजस्य होने के कारण वह अकथनीय और अकरणीय है। विरह मे वह अपनी सुधि तक भूल जाती है और कृष्ण से एकात अद्वैत स्थापित करती है। वह सब प्रकार के लौकिक बंधन तोड़ डालती है। प्रकृति की पीठिका मे उसका प्रेम और विरह और भी उभड़ आया है। नाटककार ने चन्द्रावली के चरित्र का यह पक्ष अत्यंत कलात्मकता और सौदर्य के साथ निबाहा है। अंत मे वह अपने प्रियतम से मिलन प्राप्त करती है और उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती है। वह रस की पोषक सिद्ध होती है।

कथोपकथन—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कथोपकथन की योजना में बहुत प्रवीण थे। उन्होंने सामान्य कथोपकथन और स्वगत-कथनों द्वारा चन्द्रावली और उसकी सखियों के चरित्र पर प्रकाश डाला है। प्रारंभ मे शुकदेव और नारद का कथोपकथन व्याख्यात्मक या विश्लेषणात्मक हैं। साथ ही चन्द्रावली और उसकी सखियाँ आपस के संभाषण से भावी या विगत बातों की सूचना देती हैं। 'चन्द्रावली' मे कथोपकथन कथानक को आगे बढ़ाते और पात्रों की भावनाओं और मानसिक परिस्थितियों का परिचय देते हैं। चन्द्रावली और उसकी सखियों के कथोपकथन स्त्रियोचित और श्रृंगारपूर्ण मनोदशा के अनुकूल ही हुए है। भाषा का प्रयोग भी पात्र और अवसर की दृष्टि से स्वाभाविक रूप में है। चन्द्रावली का

प्रलाप करते समय अथवा उसकी सखियों द्वारा झूला झूलते समय की भाषा की स्वाभाविकता देखते ही बनती हैं। सामान्यतः 'चन्द्रावली' में कथोपकथन लंबे नहीं हैं, किन्तु जहाँ भावों की तीव्रता या रस की निष्पत्ति पाई जाती है वहाँ के स्वगत-कथनों के रूप मे आवश्यकता से अधिक लंबे होकर नाटकीय कार्य-व्यापार की प्रगति मे बाधक सिद्ध होते है। रंगमंच पर भी वे बाधक सिद्ध होगे। किन्तु रचना-पद्धति की दृष्टि से बाधक और अस्वाभाविक होते हुए भी उनमे सरसता का अभाव नही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कवि और भक्त थे। अतएव उपयुक्त स्थलों पर अपनी भावुकता प्रकट किए विना न रह सके हो तो कोई आश्चर्य की बात नही। वैसे भी स्वगत-कथनों की संख्या कम है। 'चन्द्रावली' के कथोपकथनों मे स्वगत-कथनों को छोड़कर, मितभाषिता, व्यावहारिकता, स्वच्छन्दता और सजीवता उनमें किसी प्रकार की भी बोझिलता नही है। बीच-बीच में छोटी-बड़ी स्वनिर्मित या दूसरे कवियों की कविताएँ या साधारण पद्यात्मक रचनाओं का समावेश अवश्य है, किन्तु वे अवसरानुकूल, मनोदशा, पर प्रकाश डालनेवाली और रस की पोषक है—किन्तु पद्यात्मक वार्तालाप बहुत कम हैं। कही-कहीं पद्यात्मक संवादों पर पारसी कंपनियों की शैली का प्रभाव है, जैसे एक उदाहरण इस प्रकार है :—

'ललिता—कहाँ तुम्हारो देस है ?
जोगिन—प्रेम नगर पिय गाँव।
ललिता—कहाँ गुरू कहि बोलहीं ?
जोगिन—प्रेमी मेरो नाँव ॥......'

इसे हम नौटंकी या साँग की शैली भी कह सकते हैं। किन्तु 'चन्द्रावली' में नौटंकी या साँग की कथोपकथन शैली अन्यत्र भी दिखाई पड़ जाती है, जैसे चन्द्रावली की सखियों के संवाद मे। वास्तव मे रचना-पद्धति और अभिनय की दृष्टि से कुछ अपवाद-स्वरूप स्थलों को छोड़कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को संवाद में सफलता प्राप्त हुई है।

अभिनय—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को 'चन्द्रावली' नाटिका के अभिनय की उत्कट इच्छा थी, किन्तु उनकी इच्छा पूर्ण न हो सकी। उस समय तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश में कोई शिष्ट रंगमंच और नाटक-समाज नही था। पारसी थिएटरों को सुहृद समाज निकृष्ट और दुराचार के अड्डे समझता था। जहाँतक अनुकृति से संबंध है 'चन्द्रावली' में अनुकृति की कमी नही है। रोमाच, कंप, अश्रु आदि अवस्थानुकरण द्वारा सात्विकाभिनय प्रस्तुत किया जा सकता है। चन्द्रावली के अनेक कार्यों और मानसिक दशाओं का अनुकरण भली-भाँति

रंगमंच पर दिखाया जा सकता है। श्रीकृष्ण का एकदम प्रकट हो जाना भी प्रदर्शित किया जा सकता है। यत्र-तत्र दिए गए संकेत भी इस तथ्य की सूचना देते है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ध्यान उसके अभिनय की ओर था। भाषा भी सरल और विभिन्नता लिए हुए है। साथ ही नाटिका में न तो विषय की दुरूहता है, न कथानक की जटिलता। कथोपकथन भी स्वाभाविक हैं। विभिन्न दृश्यों की योजना करना भी कठिन नही है। किन्तु इन सब अनुकूल बातों के होते हुए भी नाटिका में कुछ बातें ऐसी हैं जो उसके सफल अभिनय में बाधक सिद्ध होंगी। सबसे पहली बात तो यह है कि उसमें कार्य-व्यापार की कमी है। पात्र केवल आते-जाते और बातचीत करते हुए पाए जायँगे जिससे दर्शकों का जी ऊब जायगा। दृश्यों की विभिन्नता का अभाव भी एक दोष है। विषय-परिवर्तन नहीं के बराबर है। दृश्यों और विषय की विभिन्नता से अभिनय में नवीनता और मनोरमता का संयोग होता है। फिर 'चन्द्रावली' नाटिका मे जो गुण है वही अभिनय की दृष्टि से सबसे बड़ा दोष है, अर्थात् काव्यतत्व की प्रचुरता और घटनाओं की अप्रधानता। इससे अभिनय मनोरंजनकारी न होगा। कविताओं की संख्या भी बहुत है। कविताएँ और चन्द्रावली के लंबे-लंबे स्वगत-कथन काट-छाँट कर छोटे भी किए जा सकते हैं, किन्तु अन्य बातों के संबंध में कोई विशेष परिवर्तन उपस्थित नही किया जा सकता। अस्तु, 'चन्द्रावली' नाटिका का अभिनय हो तो सकता है, किन्तु इस दृष्टि से वह सर्वथा निर्दोष नही है। लेकिन इससे नाटिका के साहित्यिक मूल्य में कोई कमी नही आती। नाटक केवल पढ़े जाने के लिए लिखे जायँ या अभिनय के लिए भी, इस संबंध में अभी वाद-विवाद है। यदि अभिनेयता मात्र रूपकों का आवश्यक तत्व माना जाय तो संसार के अनेक महान् नाटकों को नाटकों की श्रेणी से अलग कर देना पड़ेगा।

प्रकृति-वर्णन—'चन्द्रावली' नाटिका में गद्य-पद्य मे वर्षा-ऋतु और नौ छप्पयों में यमुनाजी का वर्णन हुआ है। किन्तु उनमें काव्य-परिपाटी और कवि-कौशल ही अधिक है, न कि शुद्ध प्रकृति का वर्णन। एक विरह-विधुरा और उसकी सखियों पर उन दृश्यों का क्या प्रभाव पड़ता है, इसी बात पर अधिक ध्यान रखा गया है। वे केवल उद्दीपन की दृष्टि से रखे गए हैं। उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में वैसे भी शुद्ध प्रकृति का वर्णन नहीं मिलता। उनका जीवन प्रधानतः नगर में ही व्यतीत हुआ था। प्रकृति के साथ उनका अधिक संपर्क न था। उन्होंने केवल उद्यानादि की शोभा का ही थोड़ा-बहुत वर्णन किया है। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मानव-प्रकृति की ओर अधिक ध्यान दिया।

भक्ति-सिद्धान्त—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विविध काव्य और नाट्य-रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रेम' उनके जीवन का प्रधान आधार था। उनकी विविध रचनाओं में 'प्रेम' के विभिन्न पक्ष ही प्रकट हुए है। यह वही 'प्रेम है जो मनुष्य को उच्चतम भाव-भूमि पर स्थित कर देता है और इसी प्रेम की भावना के वशीभूत होकर भक्त अपना सर्वस्व निछावर कर देता है, और जिसे पाकर उसे संसार तुच्छ दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य में सूफी सन्त, राम-भक्त और कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी धारणाओं और मान्यताओं के अनुसार इसी स्वर्गीय और दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वल्लभ कुल के वैष्णव थे। वल्लभीय वैष्णव संप्रदाय के वे पक्के अनुयायी थे। अपने साहित्यिक जीवन के बाल-काल में ही उन्होंने—'हम तो मोल लिए या घर के।...' पद बनाया था। १८७३ (संवत् १९३०) में उन्होंने तदीय समाज की स्थापना भी की थी। यह समाज प्रधानतः प्रेम और धर्म संबंधी था। इस समाज के कुछ नियम इस प्रकार थे :—

(१) प्रत्येक वैष्णव इस समाज में आ सकते हैं, परन्तु जिनका शुद्ध प्रेम होगा वे इसमें रहेंगे।

(२) शुद्ध प्रेम की वृद्धि।

समाज में प्रत्येक वैष्णव को प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी प्रतिज्ञा लेकर 'अनन्य वीर वैष्णव' की पदवी ग्रहण की थी। प्रतिज्ञाओं मे से कुछ ये हैं :

(१) हम केवल परम प्रेममय भगवान् श्री राधिकारमण का ही भजन करेंगे।

(२) बड़ी से बड़ी आपत्ति में भी अन्याश्रय न करेंगे।

(३) हम भगवान् से किसी कामना हेतु प्रार्थना न करेंगे। और न किसी अन्य देवता से कोई कामना चाहेंगे।

(४) जुगल स्वरूप में हम भेद दृष्टि न देखेंगे। १८८२ में वे श्रीनाथजी के दर्शन करने भी गए थे। जीवन के अंत समय भी वे 'स्वामिनी सहित श्रीकृष्ण' का नाम लेते सुने गए थे।

तदीय समाज की स्थापना के तीन वर्ष बाद ही 'चन्द्रावली' नाटिका की रचना हुई थी। उसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रेमी रूप ही प्रधानतः व्यक्त हुआ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है उनका प्रेम या तो ईश्वरोन्मुख (कृष्णोन्मुख) प्रेम था या देश-प्रेम था। 'चन्द्रावली' में पहले प्रेम का प्रस्फुटन हुआ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका सूरदास ने चन्द्रावली का उल्लेख किया है। किन्तु

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चन्द्रावली का उल्लेख जिस रूप में किया है वह अद्भुत और मौलिक है। उन्हें प्रेम की तीव्रता का चित्रण करना अभीष्ट था। यह कार्य राधा के चित्रण द्वारा संपन्न नहीं हो सकता था, क्योंकि कुछ प्राचीन ग्रन्थों मे राधा के विवाह का उल्लेख मिलता है और स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राधा और कृष्ण में कोई अन्तर नही माना। वे तो केवल 'लीलार्थ दो हो रहे हैं।' अस्तु, स्वकीयत्व में प्रेम की वह तीव्रता नही आ सकती जो 'परकीयत्व' में मिलती है। चन्द्रावली के प्रेम की तीव्रता 'परकीयत्व' पर आधारित है और इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रेम-भक्ति प्रकट करने के लिए चन्द्रावली को ही माध्यम बनाया है, न कि राधा को। ग्रन्थ के समर्पण में उन्होंने स्वयं कहा—'इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार मे प्रचलित है' और 'जो अधिकारी नही है उनकी समझ ही मे न आवेगा।' नाँदी पाठ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नेति नेति तत्-शब्द-प्रतिपाद्य सर्व्व भगवान् चन्द्रावली चकोर श्रीकृष्ण' कहकर उसी भावना को व्यक्त किया है। विष्कंभक मे शुकदेव जी ने भी 'परम प्रेम अमृतमय एकात भक्ति का उल्लेख किया है जिससे 'आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं।' साथ ही व्रज की गोपियों का 'कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है' नारद जी भी 'परम प्रेमानंदमयी श्रीब्रजवल्लभी लोगों का दर्शन करके' अपने को पवित्र समझते थे और उनकी विरहावस्था देखते बरसों वही भूले पड़े रहे। नारदीय भक्ति-सूत्र में भी 'परम प्रेमानंदमयी अमृत भक्ति' का उल्लेख हुआ है। वे 'ब्रज के लता पता मोहि कीजै···' गाकर प्रेम-अवस्था में हो जाते हैं और नेत्रों से अश्रु-वर्षा होने लगती है। आगे चलकर वे ही चन्द्रावली के विलक्षण प्रेम का उल्लेख करते हैं। नाटिका में भारतेन्दुजी ने इसी विलक्षण और अलौकिक प्रेम का प्रदर्शन किया है। इस प्रेम में पूर्वानुराग जनित विरह की प्रधानता है। चन्द्रावली की भक्ति रागात्मक भक्ति है, न कि वैधी भक्ति। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रेम की जो पराकाष्ठा रखी है वह पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार है। पुष्टिमार्ग का मर्म वाक्य है—'श्रीकृष्णः शरणं मम'। पुष्टि का अर्थ है 'पोषण—अनुग्रह, कृपा' अर्थात् भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण की कृपा—'कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः'। इस मार्ग में प्रेम और कृपा से भी जीव और ईश्वर का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। साधन और फल भगवान् कृष्ण हैं और भगवान् की कृपा ही मुख्य है। भगवान् की कृपा ही भगवान् से मिलाने का एकमात्र साधन है। भगवान् को स्वीकर करने में योग्यायोग्य का परिचय नहीं कराना पड़ता। जीव अपने आपको अत्यन्त दीन और निःसाधन मान प्रभु की कृपा का इच्छुक बना रहता है। भगवान् जीव

का केवल समर्पण भाव देखते हैं और वे जीव की शक्ति पर अनुरक्त न होकर अनुराग पर मोहित होते है (दे०, चतुर्थ अंक मे भगवान् का कथन)। उत्कृष्ट सिद्धि और शुद्ध पुष्टि मिल जाने पर लोक और वेद के बन्धन 'बन्धन' मालूम होने लगते है।[१] जीव अपने आपको एक तुच्छ सेवक समझता है। उसके लिए श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमात्मा है और उनकी सेवाप्राप्ति और सेवा का अधिकार ही परम पुरुषार्थ है। निष्काम भावना से भक्त की उनमें एकान्त अनुरक्ति पाई जाती है। श्रीकृष्ण का साक्षात्कार होना, उनकी लीलाओं का आनन्द उठाना और सायुज्य मुक्ति प्राप्त करना जीव का प्रधान लक्ष्य रहता है। अभीतक जगत मे शुद्ध पुष्टि-भक्ति श्री गोपीजनों को छोड़कर और किसी को प्राप्त नहीं हुई। इस शुद्ध पुष्टि-भक्ति की तीन अवस्थाएँ होती है—स्नेह (लौकिक पदार्थों से चित्त हटकर भगवान् के माहात्म्य का बोध), आसक्ति (गृहादिक जब प्रतिबन्ध मालूम होने लगते है) और व्यसन (सब पदार्थों से मन हटकर जब प्रभु-प्रेम और प्रभु का ही ध्यान निरन्तर बना रहे—सारा संसार जब प्रभुमय हो जाता है)। किन्तु यह आनन्द की अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। भगवान् का वेणुरव सुनकर गोपीजनों ने ही ऐसा साहस किया था। उन्हें ही इस प्रेमाभक्ति का अनुभव हुआ था। पुष्टिमार्गीय भक्ति-भावना मे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त यमुना, वंशी, गिरिवर आदि को भी अत्यन्त महत्व दिया गया है। नाटिका मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्थान-स्थान पर अपनी पुष्टिमार्गीय प्रेमाभक्ति व्यक्त की है। (दे० नारद और चन्द्रावली के सभी कथन) विष्कम्भक मे शुकदेव जी और नारद के कथन, द्वितीय अंक के प्रारम्भ मे चन्द्रावली का कथन, अथवा आगे चलकर उसीका यह कथन—'प्यारे! चाहे गरजो चाहे लरजो...', चन्द्रावली का प्रलाप, तीसरे अंक में चन्द्रावली का स्वगत, चौथे अक मे यमुना जी का वर्णन, चौथे अंक के अंत में भगवान् और विशाखा के कथन आदि तथा नाटिका में निहित सम्पूर्ण दृष्टिकोण से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भक्ति-भाव पर प्रकाश पड़ता है और उपर्युक्त पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का समर्थन होता है। नाटिका का सम्पूर्ण वातावरण एक भक्त की भावना से ओत-प्रोत है जिसमे भगवान् की लीला, भगवान् की कृपा, भक्त की दीनहीन दशा और पूर्णतः भगवान् के अनुग्रह पर निर्वाह, यमुना आदि को विशिष्ट स्थान मिला है। शृंगार की उच्च मनोभूमि पर स्थित

---

१. 'प्रेम सरोवर' में भारतेन्दुजी ने स्वयं कहा है—

> **जिन पावन सों चलत तुम लोक वेद की गैल।**
> **सो न पाँव या सर धरौ, जल ह्वै जैहैं मैल॥**

होने के कारण भारतेन्दु की भक्ति-भावना तथा रागात्मिका वृत्ति और भी तीव्र हो उठी है। उनका प्रेम-वर्णन आवेगपूर्ण है।"

'चन्द्रावली' नाटिका 'उज्ज्वल नीलमणि' की परम्परा में है। उसमे जिस श्रृङ्गार का वर्णन हुआ है वह उज्ज्वल रस या अलौकिक श्रृङ्गार या लोकोत्तर श्रृङ्गार के अन्तर्गत है। लौकिक साधन ग्रहण किए जाने पर भी उसमें लौकिकता की गध नही है।

'चन्द्रावली' नाटिका मे प्रेम प्रधान है या भक्ति, इसका उत्तर यह है कि उसमे प्रेमाभक्ति है। लेखक ने प्रेम के आधार पर अपनी भक्ति-भावना प्रकट की है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रेम के अनन्य पुजारी थे। 'भारत-दुर्दशा' मे देश-प्रेम व्यक्त हुआ है, तो 'चन्द्रावली' मे ईश्वर-प्रेम। चन्द्रावली का प्रेम अलौकिक है और भक्ति की कोटि का है। कुछ रीतिकालीन उपकरण ग्रहण किए जाने पर भी चन्द्रावली के प्रेम की अलौकिकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जिस प्रेम का भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने वर्णन किया है उसे प्रकट करने के लिए लौकिक माध्यम तो ग्रहण करने ही पड़ते हैं। लगभग सभी भक्त कवियों ने ऐसा किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा वर्णित चन्द्रावली का प्रेम मीरॉ के प्रेम की भॉति है। उसके माध्यम द्वारा एक भक्त का हृदय प्रकट हुआ है। उनका प्रेम ही उनकी भक्ति है।

भाषा—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी 'हिन्दी-भाषा' नामक छोटी-सी पुस्तक में अपने समय मे प्रचलित गद्य के नमूने दिए हैं। एक उद्धरण उन्होंने ऐसी भाषा का दिया है जिसमें संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य है। दूसरा उद्धरण ऐसी भाषा का है जिसमें संस्कृत शब्द थोड़े हैं। तीसरे उद्धरण की भाषा को उन्होने शुद्ध हिन्दी कहा है। वह उद्धरण इस प्रकार है—'पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए क्या उस देश में बरसात नही होती या किसी सौत के फंद मे पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए। कहाँ (तो) वह प्यार की बातें कहॉ एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा! मैं कहॉ जाऊँ कैसी करूँ मेरी तो ऐसी कोई मुँहबोली सहेली भी नही कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ कुछ इधर-उधर की बातो ही से जी बहलाऊँ।' स्वय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को यह और जिसमे सस्कृत के शब्द थोड़े रहते थे, भाषा के ये दो रूप पसद थे। वास्तव मे इस अवतरण की शैली ही हिन्दी की जातीय शैली है जिसकी विशेषता है—सरल संस्कृत शब्द, तद्भव और देशज शब्दों का बाहुल्य, कहावतों और मुहावरों और लोक प्रचलित सरल विदेशी शब्दों का प्रयोग। 'चन्द्रावली' की भाषा अपने इन्हीं जातीय गुणों से समन्वित है। वह अनलंकृत और प्रसाद गुणपूर्ण है। जहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

को चोट करनी होती थी, वहाँ वे कहावतो और मुहावरों का विशेषरूप से प्रयोग करते थे। चन्द्रावली का उलाहना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'जुदा', 'जरदी' 'जहन्नुम', 'कलाम' 'सलाह' आदि कुछ सरल विदेशी शब्द भी आ गए हैं। प्रायः भारतेन्दु ने गम्भीर विषयो या तथ्य-निरूपण के अनुकूल और भावावेश, सरल हास-परिहास और व्यंग के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। पहली का उदाहरण 'नीलदेवी' मे मिलता है, तो दूसरी का 'चन्द्रावली' मे। उसमे कोमलता और भाव-व्यंजकता है। उपयुक्त और स्त्रियोचित शब्दो का प्रयोग कर उन्होंने उसे विषयानुकूल, भावानुकूल और पात्रानुकूल भाषा का रूप दिया है। मानसिक परिस्थितियों के अनुकूल 'चन्द्रावली' की भाषा की विविधता भी देखने योग्य है। भावावेगपूर्ण स्थलों पर भाषा की विदग्धता सराहनीय है। विरहकातरा चन्द्रावली की भाषा रसपूर्ण है, क्योंकि वह उसके हृदय की सच्ची भावनाएँ प्रकट करती है। प्रेम की गहराई का प्रकटीकरण सरल, सुगम और सुबोध शब्दों द्वारा हुआ है। सखियों का परिहास भी कोमल और प्रेम से सिक्त शब्दो द्वारा प्रकट हुआ है। साथ ही 'चन्द्रावली' की भाषा गभीर धार्मिक सिद्धान्तो का सरल रूप में प्रतिपादन करनेवाली और प्रवाहपूर्ण है। 'चन्द्रावली' मे कविता-भाग की भाषा तो सर्वत्र सुबोध, प्रसादगुणसम्पन्न और निखरी हुई ब्रजभाषा है। उसमे रस और अलंकार बिना प्रयास के आ गए हैं। काव्य-भाषा को छोड़कर 'चन्द्रावली' में गद्य की भाषा दो प्रकार की है—खड़ी बोली और ब्रजभाषा। अधिकतर तो खड़ीबोली का प्रयोग हुआ है। ब्रजभाषा के प्रयोग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किसी नियम विशेष का पालन किया मालूम नही होता। पूर्वोल्लिखित प्राचीन नियम का रूपान्तर भी यहाँ लागू नही होता। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी तरंग के अनुसार खड़ी बोली और ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। स्वयं चन्द्रावली और विशेष रूप से उसकी सखियाँ (द्वितीय और तृतीय अक में) कहीं ब्रजभाषा और कही खड़ी बोली का व्यवहार करती हैं। संभवतः जहाँ नाटककार को स्नेह का आवेग प्रकट करना पड़ा है वहाँ उसने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भूमि से संबंधित सरस और कोमल ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, अन्यथा इस संबंध में कोई व्यवस्थित नियम नही दिखाई देता। तृतीय अंक में स्नेहमयी सखियाँ और चतुर्थ अंक में जोगिन का वेष छोड़ देने पर स्वयं स्नेहमय भगवान् कृष्ण ब्रजभाषा द्वारा ही चन्द्रावली के कर्ण-कुहरों में अपनी वाणी का अमृत रस घोलते हैं। किन्तु गद्य की ब्रजभाषा में कहीं-कहीं खड़ी बोली के रूप दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

'चन्द्रावली' नाटिका में कुछ दोष होते हुए भी स्वर्गीय डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा 'भारतेन्दु-नाटकावली' की प्रस्तावना में दी गई आलोचना पर आश्चर्य

प्रकट किये बिना नहीं रहा जा सकता। भाषा, भाव, रचना-पद्धति, लेखक के प्रेम और भक्ति-संबंधी अभिव्यक्ति आदि की दृष्टि से 'चन्द्रावली' निस्संदेह एक सुन्दर तथा प्रिय और वस्तुतः हिन्दी की टकसाली रचना है। निष्कलंक तो चन्द्रमा भी नहीं है। 'चन्द्रावली' का दोष ही उसका सौन्दर्य है।

श्रीचन्द्रावली

नाटिका

काव्य, सुरस सिंगार के दोउ दल, कविता नेम।
जग-जन सों कै ईस सों कहियत जेहि पर प्रेम॥
हरि उपासना, भक्ति, वैराग, रसिकता ज्ञान।
सोधैं जग-जन मानि या चन्द्रावलिहि प्रमान॥

संवत् १९३३

समर्पण

प्यारे !

लो, तुम्हारी चन्द्रावली तुम्हे समर्पित है। अंगीकार तो किया ही है, इस पुस्तक को भी उन्हींकी कानि से अंगीकार करो ! इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार मे प्रचलित है। हॉ, एक अपराध तो हुआ जो अवश्य क्षमा करना होगा। वह यह कि यह प्रेम की दशा छापकर प्रसिद्ध की गई। वा प्रसिद्ध करने ही से क्या जो अधिकारी नही है उनकी समझ ही में न आवेगा।

तुम्हारी कुछ विचित्र गति है। हमी को देखो। जब अपराधों को स्मरण करो तब ऐसे कि कुछ कहना ही नहीं। क्षण भर जीने के योग्य नही। पृथ्वी पर पैर धरने की जगह नही। मुँह दिखाने के लायक नहीं। और जो यों देखो तो ये लम्बे-लम्बे मनोरथ। यह बोलचाल। यह ढिठाई कि तुम्हारा सिद्धांत कह डालना। जो हो, इस दूध-खटाई की एकत्र स्थिति का कारण तुम्हीं जानो। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैसे हों तुम्हारे बनते हैं। अतएव क्षमासमुद्र ! क्षमा करो ! इसीमें निर्वाह है। बस—

भाद्रपद कृष्ण १४ }
सं० १९३३

हरिश्चन्द्र

श्रीचन्द्रावली

नाटिका

स्थान—रंगशाला

(ब्राह्मण आशीर्वाद पाठ करता हुआ आया)

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥

और भी

नेति नेति तत्-शब्द-प्रतिपाद्य सर्व भगवान।
चन्द्रावली-चकोर श्रीकृष्ण करो कल्यान ॥

(सूत्रधार आता है)

सूत्र०—बस बस, बहुत बढाने का कुछ काम नहीं। मारिष! मारिष!! दौड़ो दौड़ो, आज ऐसा अच्छा अवसर फिर न मिलेगा, हम लोग अपना गुण दिखाकर आज निश्चय कृतकृत्य होंगे।

(पारिपार्श्वक आकर)

पारि०—कहो कहो, आज क्यों ऐसे प्रसन्न हो रहे हो? कौनसा नाटक करने का विचार है और उसमें ऐसा कौन-सा रस है कि फूले नहीं समाते?

सूत्र०—आः, तुमने अबतक न जाना? आज मेरा विचार है कि इस समय के बने एक नए नाटक की लीला करूँ, क्योंकि संस्कृत नाटकों को अपनी भाषा मे अनुवाद करके तो हम लोग अनेक बार खेल चुके हैं, फिर बारंबार उन्हींके खेलने को जी नहीं चाहता।

पारि०—तुमने बात तो बहुत अच्छी सोची, वाह क्यों न हो, पर यह तो कहो कि वह नाटक बनाया किसने है?

सूत्र०—हमलोगों के परम मित्र हरिश्चन्द्र ने।

पारि०—(मुँह फेर कर) किसी समय तुम्हारी बुद्धि में भी भ्रम हो जाता है। भला वह नाटक बनाना क्या जाने! वह तो केवल आरम्भ-शूर है। और अनेक बड़े-बड़े कवि हैं, कोई उनका प्रबन्ध खेलते।

सूत्र॰—(हँसकर) इसमें तुम्हारा दोष नहीं, तुम तो उससे नित्य नहीं मिलते। जो लोग उसके संग में रहते हैं वे तो उसको जानते ही नहीं, तुम बिचारे क्या हो।

पारि॰—(आश्चर्य से) हाँ, मैं तो जानता ही न था, भला कहो उनके दो-चार गुण मैं भी सुन सकता हूँ?

सूत्र॰—क्यों नहीं, पर जो श्रद्धा से सुनो तो।

पारि॰—मैं प्रति रोम को कर्ण बना कर महाराज पृथु हो रहा हूँ, आप कहिए।

सूत्र॰—(आनन्द से) सुनो—

परम-प्रेमनिधि रसिक-बर, अति-उदार गुन-खान।
जग-जन-रंजन, आशु-कवि, को हरिचन्द-समान॥
जिन श्रीगिरिधरदास कवि, रचे ग्रन्थ चालीस।
ता-सुत श्रीहरिचन्द कों, को न नवावै सीस॥
जग जिन तृन-सम करि तज्यौ, अपने प्रेम-प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाॅव॥
चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत के नेम।
यह दृढ़, श्रीहरिचन्द को, टरै न अविचल प्रेम॥

पारि॰—वाह-वाह! मैं ऐसा नही जानता था, तब तो इस प्रयोग मे देर करनी ही भूल है।

(नेपथ्य में)

स्रवन-सुखद भव-भय-हरन, त्यागिन कों अत्याग।
नष्ट-जीव बिनु कौन हरि-गुन सों करै विराग॥
हम सौंहू तजि जात नहिं, परम पुन्य फल जौन।
कृष्णकथा सौ मधुरतर जग मैं भाखौ कौन?॥

सूत्र॰—(सुनकर आनन्द से) अहा! वह देखो मेरा प्यारा छोटा भाई शुकदेव जी बनकर रंगशाला में आता है और हमलोग बातों ही से नही सुलझे। तो अब मारिष! चलो, हम लोग भी अपना-अपना वेष धारण करें।

पारि॰—क्षण भर और ठहरो, मुझे शुकदेव जी के इस वेष की शोभा देख लेने दो, तब चलूँगा।

सूत्र॰—सच कहा, अहा कैसा सुन्दर बना है, वाह मेरे भाई वाह! क्यों न हो, आखिर तो मुझ रंगरंजक का भाई है।

अति कोमल सब अंग रंग साँवरो सलोना।
घूँघरवाले बालन पै बलि वारौं टोना॥
भुज बिसाल, मुख चंद झलमले, नैन लजौंहैं।
जुग कमान सी खिंची गड़त हिय में दोउ भौंहैं॥
छबि लखत नैन छिन नहिं टरत शोभा नहि कहि जात है।
मनु प्रेमपुञ्ज ही रूप धरि आवत आजु लखात है॥
तो चलो, हम भी अपने-अपने स्वाँग सजकर आवें।

(दोनों जाते हैं)

॥ इति प्रस्तावना ॥

अथ विष्कम्भक

(आनन्द में घूमते हुए डगमगी चाल से शुकदेव जी आते हैं)

शुक०—(स्रवन-सुखद इत्यादि फिर से पढ़कर) अहा ! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है, कोई नेम धर्म मे चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त, कोई मत-मतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है, एक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है, कोई ससार को ही सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है, कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मान कर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रग मे सब रँगे है। जिसने जो सिद्धान्त कर लिया है वही उसके जी मे गड़ रहा है और उसीके खंडन-मंडन में जन्म बिताता है, पर वह जो परम प्रेम अमृत-मय एकात भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अन्धकार नाश हो जाते है और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आपसे आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली; मिले कहाँ से ? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं है। और भी, जो लोग धार्मिक कहाते हैं, उनका चित्त, स्वमत-स्थापन और पर-मत-निराकरण-रूप वाद-विवाद से, और जो बिचारे विषयी हैं उनका अनेक प्रकार की इच्छारूपी तृष्णा से, अवसर तो पाता ही नही कि इधर झुके। (सोचकर) अहा ! इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है और कोई क्या पिएगा ? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग मे बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं, धन्य हैं, धन्य हैं, और दूसरा ऐसा कौन है। (विचारकर) नही-नहीं, व्रज की गोपियों ने उन्हें भी जीत लिया है। अहा ! इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है; क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नही होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं कि इनमें दोनों बातें एक संग मिलती हैं, नही तो मेरा-सा निवृत्त मनुष्य भी रात-दिन इन्हीं लोगों का यश क्यों गाता ?

(नेपथ्य में वीणा बजती है)

(आकाश की ओर देखकर और वीणा का शब्द सुनकर)

आहा ! यह आकाश कैसा प्रकाशित हो रहा है और वीणा के कैसे मधुर

स्वर कान मे पड़ते हैं। ऐसा सम्भव होता है कि देवर्षि भगवान् नारद यहाँ आते हैं। अहा! वीणा कैसे मीठे सुर से बोलती है (नेपथ्य-पथ की ओर देखकर) अहा! वही तो हैं, धन्य हैं, कैसी सुन्दर शोभा है!

पिंग जटा को भार सीस पै सुन्दर सोहत।
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत॥
कटि मृगपति को चरम, चरन मैं घुँघरू धारत।
नारायण गोविन्द कृष्ण यह नाम उचारत॥
लै बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत।
जग अघ छिन मैं हरि कहि हरत जेहि सुनि नर भव-जल तरत॥
जुग तूँबन की बीन परम सोभित मनभाई।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई॥
आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग-मन मोहैं॥
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुन गन के प्रगट।
यह अगम खजाने द्वै भरे नित खरचत तो हू अघट॥
मनु तीरथ-मय कृष्ण-चरित की काँवरि लीने।
कै भूगोल खगोल दोउ कर-अमलक कीने॥
जग-बुद्धि तौलन हेत मनहुँ यह तुला बनाई।
भक्ति-मुक्ति की जुगल पिटारी कै लटकाई॥
मनु गावन सों श्रीराग के बीना हू फलती भई।
कै राग-सिन्धु के तरन हित, यह दोऊ तूँबी लई॥
ब्रह्म-जीव, निरगुन-सगुन, द्वैताद्वैत-विचार।
नित्य-अनित्य विवाद के द्वै तूँबा निरधार॥
जो इक तूँबा लै कढ़ै, सो बैरागी होय।
क्यों नहिं ये सबसों बढ़ै, लै तूँबा कर दोय॥

तो अब इनसे मिलके आज मैं परमानन्द लाभ करूँगा।

(नारदजी आते हैं)

शुक०—(आगे बढ़कर और गले से मिलकर) आइए आइए, कहिए कुशल तो है? किस देश को पवित्र करते हुए आते हैं?

नारद—आप से महापुरुष के दर्शन हों और फिर भी कुशल न हो, यह बात तो सर्वथा असम्भव है; और आप से तो कुशल पूछना ही व्यर्थ है।

शुक०—यह तो हुआ, अब कहिए आप आते कहाँ से हैं ?

नारद—इस समय तो मैं श्रीवृन्दावन से आता हूँ ।

शुक०—अहा ! आप धन्य है जो उस पवित्र भूमि से आते हैं। (पैर छूकर) धन्य है उस भूमि की रज, कहिए वहाँ क्या-क्या देखा ?

नारद—वहाँ पर प्रेमानन्दमयी श्रीव्रजबल्लभी लोगों का दर्शन करके अपने को पवित्र किया और उनकी विरहावस्था देखता बरसों वही भूला पड़ा रहा। अहा, ये श्रीगोपीजन धन्य हैं। इनके गुणगण कौन कह सकता है—

गोपिन की सरि कोऊ नाहीं ।
जिन तृन-सम कुल-लाज-निगड़ सब तोर्यो हरिरस माही ॥
जिन निज बस कीने नँदनन्दन बिहरी दै गलबाँहीं ।
सब सन्तन के सीस रहौ इन चरन-छत्र की छाँही ॥
ब्रज की लता पता मोहिं कीजै ।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामैं सिर भीजै ॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै ।
श्रीराधे राधे मुख, यह बर मुँहमाँग्यौ हरि दीजै ॥

(प्रेम-अवस्था में आते हैं और नेत्रों से आँसू बहते हैं)

शुक०—(अपने आँसू पोंछकर) अहा धन्य हैं आप, धन्य हैं, अभी जो मैं न सम्हालता तो वीणा आपके हाथ से छूटके गिर पड़ती। क्यों न हो, श्रीमहादेवजी की प्रीति के पात्र होकर आप ऐसे प्रेमी हों इसमे आश्चर्य नही।

नारद—(अपने को सम्हालकर) अहा ! ये क्षण कैसे आनन्द से बीते हैं यह आपसे महात्मा की सगत का फल है।

शुक०—कहिए, उन सब गोपियों में प्रेम विशेष किसका है ?

नारद—विशेष किसका कहूँ और न्यून किसका कहूँ, एक से एक बढ़कर हैं। श्रीमती की कोई बात ही नही, वे तो श्रीकृष्ण ही है, लीलार्थ दो हो रही हैं; तथापि सब गोपियों मे श्रीचन्द्रावलीजी के प्रेम की चर्चा आजकल ब्रज के डगर-डगर में फैली हुई है। अहा ! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमतीजी का भी भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति मिल रही हैं। लोकलाज, गुरुजन कोई बाधा नहीं कर सकते। किसी उपाय से श्रीकृष्ण से मिल ही रहती हैं।

शुक०—धन्य हैं, धन्य ! कुल को, वरन् जगत् को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करनेवाली हैं ।

(नेपथ्य में वेणु का शब्द होता है)

अहा ! यह वंशी का शब्द तो और भी ब्रजलीला की सुधि दिलाता है । चलिए, चलिए अब तो ब्रज का वियोग सहा नहीं जाता; शीघ्र ही चलके उनका प्रेम देखें, उस लीला के बिना देखे आँखें व्याकुल हो रही हैं ।

(दोनों जाते है)

॥ इति प्रेमसुख नामक विष्कम्भक ॥

पहिला अंक

(जवनिका उठी)

स्थान—श्रीवृन्दाबन, गिरिराज दूर से दिखाता है

(श्रीचन्द्रावली और ललिता आती हैं)

ललिता—प्यारी, व्यर्थ इतना शोच क्यों करती है ?

चन्द्रा०—नहीं सखी ! मुझे शोच किस बात का है।

ललिता—ठीक है, ऐसी ही तो हम मूर्ख हैं कि इतना भी नही समझती।

चन्द्रा०—नहीं सखी ! मैं सच कहती हूँ, मुझे कोई शोच नहीं।

ललिता—बलिहारी सखी ! एक तू ही तो चतुर है, हम सब तो निरी मूर्ख हैं ?

चन्द्रा०—नही सखी ! जो कुछ शोच होता तो मैं तुझसे कहती न। तुझसे ऐसी कौन बात है जो छिपाती ?

ललिता—इतनी ही तो कसर है, जो तू मुझे अपनी प्यारी सखी समझती तो क्यों छिपाती ?

चन्द्रा०—चल मुझे दुख न दे, भला मेरी प्यारी सखी तू न होगी तो और कौन होगी ?

ललिता—पर यह बात मुख से कहती है, चित्त से नहीं।

चन्द्रा०—क्यों ?

ललिता—जो चित्त से कहती तो फिर मुझसे क्यों छिपाती ?

चन्द्रा०—नहीं सखी ! यह केवल तेरा झूठा सन्देह है।

ललिता—सखी ! मैं भी इसी ब्रज में रहती हूँ और सब के रंग-ढंग देखती ही हूँ। तू मुझसे इतना क्यों उड़ती है ? क्या तू समझती है कि मैं यह भेद किसी से कह दूँगी ? ऐसा कभी न समझना। सखी, तू तो मेरी प्राण है, मैं तेरा भेद किससे कहने जाऊँगी ?

चन्द्रा०—सखी ! भगवान् न करे कि किसी को किसी बात का सन्देह पड़ जाय; जिसको जो सन्देह पड़ जाता है वह फिर कठिनता से मिटता है।

ललिता—अच्छा ! तू सौगन्द खा।

चन्द्रा०—हाँ सखी ! तेरी सौगन्द।

ललिता—क्या मेरी सौगन्द ?

चन्द्रा०—तेरी सौगन्द कुछ नहीं है।

ललिता—क्या कुछ नही है, फिर तू चली न अपनी चाल से? तेरी छलविद्या कही नहीं जाती, तू व्यर्थ इतना क्यों छिपाती है! सखी! तेरा मुखड़ा कहे देता है कि तू कुछ सोचा करती है।

चन्द्रा०—क्यों सखी! मेरा मुखड़ा क्या कहे देता है?

ललिता—यही कहे देता है कि तू किसी की प्रीति मे फँसी है।

चन्द्रा०—बलिहारी सखी! मुझे अच्छा कलक दिया।

ललिता—यह बलिहारी कुछ काम न आवेगी, अन्त मे फिर मै ही काम आऊँगी और मुझीसे सब कुछ कहना पड़ेगा, क्योंकि इस रोग का वैद्य मेरे सिवा दूसरा कोई न मिलेगा।

चन्द्रा०—पर सखी! जब कोई रोग हो तब न?

ललिता—फिर वही बात कहे जाती है, अब क्या मैं इतना भी नहीं समझती! सखी! भगवान् ने मुझे भी आँखें दी हैं और मेरे भी मन है और मैं कुछ ईंट-पत्थर की नहीं हूँ।

चन्द्रा०—यह कौन कहता है कि तू ईंट-पत्थर की बनी है, इससे क्या?

ललिता—इससे यह कि इस ब्रज में रहकर उससे वही बची होगी जो ईंट-पत्थर की होगी।

चन्द्रा०—किससे?

ललिता—जिसके पीछे तेरी यह दशा है।

चन्द्रा०—किसके पीछे मेरी यह दशा है?

ललिता—सखी! तू फिर वही बात कहे जाती है। मेरी रानी, ये आँख ऐसी बुरी हैं कि जब किसी से लगती हैं तब कितना भी छिपाओ नही छिपतीं।

छिपाये छिपत न नैन लगे।
उघरि परत, सब जानि जात हैं घूँघट मैं न खगे।
कितनो करौ दुराव, दुरत नही जब ये प्रेम-पगे॥
निडर भए उघरे से डोलत मोहनरंग रँगे॥

चन्द्रा०—वाह सखी! क्यों न हो, तेरी क्या बात है। अब तू ही तो एक पहेली बूझनेवालों में बची है। चल, बहुत झूठ न बोल, कुछ भगवान् से भी डर।

ललिता—जो तू भगवान् से डरती तो झूठ क्यों बोलती? वाह सखी! अब तो तू बड़ी चतुर हो गई है। कैसा अपना दोष छिपाने को मुझे पहिले ही से झूठी बना दिया। (हाथ जोड़ कर) धन्य है, तू दण्डवत् करने के योग्य है।

कृपा करके अपना बाँयाँ चरण निकाल तो मैं भी पूजा करूँ। चल मै आज पीछे तुझसे कुछ न पूछूँगी।

चन्द्रा०—(कुछ सकपकानी सी होकर) नही सखी, तू क्यों झूठी है, झूठी तो मैं हूँ, और जो तू ही बात न पूछेगी तो कौन बात पूछेगा ? सखी ! तेरे ही भरोसे तो मैं ऐसी निडर रहती हूँ और तू ऐसी रूसी जाती है !

ललिता—नही, बस अब मैं कभी कुछ नहीं पूछने की। एक बेर पूछ कर फल पा चुकी।

चन्द्रा०—(हाथ जोड़कर) नही सखी ! ऐसी बात मुँह से मत निकाल। एक तो मै आप ही मर रही हूँ, तेरी बात सुनने से और भी अधमरी हो जाऊँगी। (ऑखों में आँसू भर लेती है)।

ललिता—प्यारी ! तुझे मेरी सौगन्ध। उदास न हो, मैं तो सब भॉति तेरी हूँ और तेरे भले के हेतु प्राण देने को तैयार हूँ। यह तो मैने हँसी की थी। क्या मै नहीं जानती कि तू मुझसे कोई बात न छिपावेगी और छिपावेगी तो काम कैसे चलेगा, देख !

हम भेद न जानिहैं जो पै कछू,
औ दुराव सखी हम मै परिहै।
कहि कौन मिलैहै पियारे पियैं,
पुनि कारज कासों सबै सरिहै॥
बिन मोसों कहै न उपाय कछू,
यह बेदन दूसरी को हरिहै।
नहिं रोगी बताइहै रोगहि जौ,
सखी बापुरो बैद कहा करिहै॥

चन्द्रा०—तो सखी, ऐसी कौन बात है जो तुझसे छिपी है ? तू जानबूझ के बार-बार क्यों पूछती है ? ऐसे पूछने को तो मुँह चिढ़ाना कहते हैं और इसके सिवा मुझे व्यर्थ याद दिलाकर क्यों दुःख देती है ? हा !

ललिता—सखी ! मैं तो पहिले ही समझी थी, यह तो केवल तेरे हठ करने से मैंने इतना पूछा, नहीं तो मैं क्या नहीं जानती ?

चन्द्रा०—सखी, मैं क्या करूँ, मै कितना चाहती हूँ कि यह ध्यान भुला दूँ, पर उस निठुर की छबि भूलती नहीं, इसीसे सब जान जाते हैं।

ललिता—सखी, ठीक है।

लगौंही चितवन औरहि होति।
दुरत न लाख दुराओ कोऊ प्रेम झलक की जोति।
घूँघट मैं नहिं थिरत तनिक हूँ अति ललचौंही बानि।
छिपत न कैसहूँ प्रीति निगोड़ी अन्त जात सब जानि॥

चन्द्रा०—सखी, ठीक है, जो दोष है वह इन्ही नेत्रों का है। यही रीझते, यही अपने को छिपा नहीं सकते और यही दुष्ट अन्त मे अपने किए पर रोते हैं।

सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भए पराये, हरि सो जब सों जाइ जुरे॥
मोहन के रस बस है डोलत तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी ऐसे ये निगुरे॥
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहि हठ सों तनिक मुरे।
अमृत-भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे॥

ललिता—इसमे क्या सन्देह है। मुझ पर तो सब कुछ बीत चुकी है। मैं इनके व्यवहारों को अच्छी रीति से जानती हूँ। ये निगोड़े नैन ऐसे ही होते है।

होत सखि ये उलझौंहैं नैन।
उरझि परत, सुरझ्यौ नहि जानत, सोचत समुझत हैं न॥
कोऊ नहिं बरजै जो इनको बनत मत्त जिमि गैन।
कहा कहौं इन बैरिन पाछे होत लैन के दैन॥

चन्द्रा०—और फिर इनका हठ ऐसा है कि जिसकी छबि पर रीझते हैं उसे भूलते नहीं, और कैसे भूलें, क्या भूलने के योग्य है, हा!

नैना वह छबि नाहिंन भूले।
दया-भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल-दल फूले॥
वह आवनि, वह हँसनि छबीली, वह मुसकनि चित चोरैं।
वह बतरानि, मुरनि हरि की वह, वह देखन चहु कोरैं॥
वह धीरी गति कमल फिरावन कर लै गायन पाछे।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि पीत पिछौरी काछे॥
परबस भए फिरत हैं नैना इक छन टरत न टारे।
हरि-ससि-मुख ऐसी छबि निरखत तनमन धन सब हारे॥

ललिता—सखी! मेरी तो यह बिपति भोगी हुई है। इससे मैं तुझे कुछ नहीं कहती; दूसरी होती तो तेरी निन्दा करती और तुझे इससे रोकती।

चन्द्रा०—सखी ! दूसरी होती तो मै भी उससे यों एक संग न कह देती। तू तो मेरी आत्मा है। तू मेरा दुःख मिटावेगी कि उलटा समझावेगी ?

ललिता—पर सखी ! एक बड़े आश्चर्य की बात है कि जैसी तू इस समय दुखी है वैसी तू सर्वदा नही रहती।

चन्द्रा०—नहीं सखी ! ऊपर से दुखी नही रहती पर मेरा जी जानता है जैसे रातें बीतती है।

मनमोहन तें बिछुरी जब सों,
तन ऑसुन सों सदा धोवती है।
'हरिचन्द जू' प्रेम के फन्द परी,
कुल की कुल लाजहि खोवती है ॥
दुख के दिन को कोऊ भॉति बितै,
बिरहागम रैन सँजोवती है।
हमही अपुनी दशा जानै सखी,
निसि सोवती हैं किधौ रोवती है ॥

ललिता—यह हो, पर मैंने तुझे जब देखा तब एक ही दशा मे देखा और सर्वदा तुझे अपनी आरसी वा किसी दर्पण मे मुँह देखते पाया पर वह भेद आज खुला।

हौ तो याही सोच मैं बिचारत रही री काहे,
दरपन हाथ ते न छिन बिसरत है।
त्यौंही 'हरिचन्द जू' बियोग औ सँजोग दोऊ,
एक से तिहारे कछु लखि न परत है ॥
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात,
तू तौ परम पुनीत प्रेम पथ बिचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसति, ताहि,
आरसी मै रैन-दिन देखिबो करत है ॥

सखी ! तू धन्य है, बड़ी भारी प्रेमिन है और प्रेम शब्द सार्थ करनेवाली और प्रेमियों की मण्डली की शोभा है।

चन्द्रा०—नही सखी ! ऐसा नही है। मैं जो आरसी देखती थी उसका कारण कुछ दूसरा ही है। हा ! (लम्बी साँस लेकर) सखी ! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी तब भगवान् से हाथ जोड़कर मनाती थी कि भगवान् ! मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे, हा ! (आँसू टपकते हैं)।

ललिता—सखी ! तुझे मै क्या समझाऊँगी, पर मेरी इतनी विनती है कि तू उदास मत हो; जो तेरी इच्छा हो, पूरी करने को उद्यत हूँ ।

चन्द्रा०—हा ! सखी यही तो आश्चर्य है कि मुझे कुछ इच्छा नही है और न कुछ चाहती हूँ । तो भी मुझको उसके वियोग का बड़ा दुःख होता है ।

ललिता—सखी, मै तो पहले ही कह चुकी कि तू धन्य है । संसार मे जितना प्रेम होता है, कुछ इच्छा लेकर होता है और सब लोग अपने ही सुख में सुख मानते हे, पर उसके विरुद्ध तू बिना इच्छा के प्रेम करती है और प्रीतम के सुख से सुख मानती है । यह तेरी चाल संसार से निराली है । इसीसे मैने कहा था कि तू प्रेमियो के मण्डल को पवित्र करनेवाली है ।

(चन्द्रावली नेत्रों में जल भरकर मुख नीचा कर लेती है)

(दासी आकर)

दासी—अरी ! मैया खीझ रही है के वाहि घरके कछू और हूँ काम-काज हैं के एक हाहा ठीठी ही है, चल उठि, भोर सों यही पड़ी रही ।

चन्द्रा०—चल आऊँ, बिना बात की बकवाद लगाई । (ललिता से) सुन सखी ! इसकी बाते सुन, चल चलें । (लम्बी साँस लेकर उठती है) ।

(तीनों जाती है)

॥ स्नेहालाप नामक पहिला अंक समाप्त ॥

दूसरा अंक

स्थान—केले का वन

समय संध्या का, कुछ बादल छाए हुए

(वियोगिनी बनी हुई श्री चन्द्रावलीजी आती हैं)

चन्द्रा०—(एक वृक्ष के नीचे बैठकर) वाह प्यारे ! वाह ! तुम और तुम्हारा प्रेम दोनों विलक्षण है; और निश्चय, बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नही जानता; जाने कैसे ? सभी उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। जिसने जो समझा है, उसने वैसा ही मान रखा है। हा ! यह तुम्हारा जो अखण्ड परमानन्दमय प्रेम है और जो ज्ञान वैराग्यादिकों को तुच्छ करके परम शान्ति देनेवाला है उसका कोई स्वरूप ही नही जानता, सब अपने ही सुख मे और अभिमान में भुले हुए है; कोई किसी स्त्री से वा पुरुष से उसको सुन्दर देखकर चित्त लगाना और उससे मिलने के अनेक यत्न करना, इसीको प्रेम कहते है, और कोई ईश्वर की बड़ी लम्बी-चौड़ी पूजा करने को प्रेम कहते हैं—पर प्यारे ! तुम्हारा प्रेम इन दोनों से विलक्षण है, क्योंकि यह अमृत तो उसीको मिलता है जिसे तुम आप देते हो। (कुछ ठहरकर) हाय ! किससे कहूँ, और क्या कहूँ, और क्यों कहूँ, और कौन सुने और सुने भी तो कौन समझे—हा !

जग जानत कौन है प्रेम-बिथा,
केहि सो चरचा या बियोग की कीजिए।
पुनि को कही मानै कहा समुझै, कोउ,
क्यौं बिन बात की रारहि लीजिए ॥
नित जो 'हरिचन्द' जू बीतै सहै,
बकिकै जग क्यो परतीतहि छीजिए।
सब पुछत मौन क्यों बैठि रही,
पिय प्यारे कहा इन्हैं उत्तर दीजिए ॥

क्योंकि—

मरम की पीर न जानत कोय।
कासों कहौं कौन पुनि मानैं बैठि रहीं घर रोय ॥

कोऊ जरनि न जाननहारी बे-महरम सब लोय।
अपुनी कहत सुनत नहि मेरी केहि समुझाऊँ सोय॥
लोक-लाज कुल की मरजादा दीनी है सब खोय।
'हरीचंद' ऐसेहि निबहैगी होनो होय सो होय॥

परन्तु प्यारे, तुम तो सुननेवाले हो? यह आश्चर्य है कि तुम्हारे होते हमारी यह गति हो। प्यारे! जिनको नाथ नही होते वे अनाथ कहाते हैं। (नेत्रों से आँसू गिरते है) जो यही गति करनी थी तो अपनाया क्यों?

पहिले मुसुकाइ लजाइ कछू
क्यौं चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइकै प्रीति
निबाहन को क्यौ कलाम कियो॥
'हरिचन्द' भए निरमोही इतै निज
नेह को यों परिनाम कियो।
मन माहिं जो तोरन ही की हुती,
अपनाइकै क्यों बदनाम कियो॥

प्यारे, तुम बड़े निरमोही हो। हा! तुम्हे मोह भी नही आता? (आँख मे आँसू भरकर) प्यारे! इतना तो वे नहीं सताते जो पहिले सुख देते हैं; तो तुम किस नाते इतना सताते हो? क्योंकि—

जिय सूधी चितौन की साधै रही,
सदा बातन मैं अनखाय रहे।
हँसिकै 'हरिचन्द' न बोले कभूँ,
जिय दूरहि सों ललचाय रहे॥
नहिं नेकु दया उर आवत है,
करिकै कहा ऐसे सुभाय रहे।
सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले,
जिहिके बदले यों सताय रहे॥

हा! क्या तुम्हें लाज भी नही आती? लोग तो सात पैर संग चलते हैं उसका जन्म भर निबाह करते हैं और तुमको नित्य की प्रीति का निबाह नहीं है! नहीं नहीं तुम्हारा तो ऐसा सुभाव नहीं था, यह नई बात है; यह बात नई है या तुम आप नये हो गये हो? भला कुछ तो लाज करो।

कित कों ढरिगो वह प्यार सबै,
क्यों रुखाई नई यह साजत हौ।

'हरिचन्द' भए हौ कहा के कहा,
अनबोलिबे में नहिं छाजत हौ ॥
नित को मिलनो तो किनारे रह्यो,
मुख देखत ही दुरि भाजत हो।
पहिले अपनाइ बढ़ाइकै नेह,
न रूसिबे में अब लाजत हौ ॥

प्यारे ! जो यही गति करनी थी तो पहिले सोच लेते। क्योंकि—

तुम्हरे तुम्हरे सब कोऊ कहैं,
तुम्हैं सो कहा प्यारे सुनात नहीं।
बिरुदावली आपुनी राखौ मिलौ,
मोहि सोचिबे की कोउ बात नही ॥
'हरिचन्द जू' होनी हुती सो भई,
इन बातन सों कछु होत नहीं।
अपनावते सोच बिचारि तबै,
जलपान कै पूछनो जात नहीं ॥

प्राणनाथ !—(आँखों में आँसू उमड़ उठे) अरे नेत्रों ! अपने किए का फल भोगो।

धाइकै आगे मिलीं पहिले तुम,
कौन सों पूछिकै सो मोहि भाखौ।
त्यौं सब लाज तजी छिन मैं,
केहिके कहे एतौ कियो अभिलाखौ ॥
काज बिगारि सबै अपनो
'हरिचन्द जू' धीरज क्यौं नहिं राखौ।
क्यों अब रोइकै प्रान तजौ,
अपुने किए को फल क्यौं नहिं चाखौ ॥

हा !

इन दुखियान कों न सुख सपने हू मिल्यौ,
योंही सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी।
प्यारे 'हरिचन्द जू' की बीती जानि औध जौ पैं
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी ॥
देख्यौ एक बार हू न नैन भरि तोहि यातें
जौन-जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी ॥

बिना प्रानप्यारे भए दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रहि जायँगी।

परन्तु प्यारे, अब इनको दूसरा कौन अच्छा लगेगा जिसे देखकर यह धीरज धरेंगी, क्योंकि अमृत पीकर फिर छाछ कैसे पीयेंगी।

बिछुरे पिय के जग सूनो भयो,
अब का करिए कहि पेखिए का।
सुख छाड़िके संगम को तुम्हरे,
इन तुच्छन को अब लेखिए का॥
'हरिचन्द जू' हीरन को व्यवहार कै
काँचन को लै परेखिए का।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो,
उन आँखिन सो अब देखिए का॥

इससे नेत्र! तुम तो अब बन्द ही रहो। (आँचल से नेत्र छिपाती है)।

(बनदेवी[1] सन्ध्या[2] और वर्षा[3] आती हैं)

संध्या—अरी बनदेवी! यह कौन आँखिनै मूँदिकै अकेली या निरजन वन में बैठी रही है?

बन०—अरी का तू याहि नाँयँ जानै? यह राजा चन्द्रभानु की बेटी चन्द्रावली है।

वर्षा—तौ यहाँ क्यों बैठी है?

बन०—राम जानै। (कुछ सोचकर) अहा जानी! अरी, यह तो सदा ह्याँईं बैठी बक्यौ करैहै और यह तो या बन के स्वामी के पीछे बावरी होय गई है।

वर्षा—तौ चलौ यासूँ कछू पूछै।

बन०—चल।

(तीनों पास जाती हैं)

बन०—(चन्द्रावली के कान के पास) अरी मेरी बन की रानी चन्द्रावली! (कुछ ठहरकर) राम! सुनैहू नहीं है! (और ऊँचे सुर से) अरी मेरी प्यारी सखी चन्द्रावली! (कुछ ठहर कर) हाय! यह तो अपुने सों बाहर होय रही है। अब काहे कों सुनैगी। (और ऊँचे सुर से) अरी! सुनै नाँयनै री मेरी अलख लड़ैती चन्द्रावली!

---

१. हरा कपड़ा, पत्ते का किरीट, फूलों की माला।
२. गहिरा नारंजी कपड़ा।
३. रंग साँवला, लाल कपड़ा।

चन्द्रा०—(आँख बन्द किए ही) हाँ हाँ अरी क्यों चिल्लाय है? चोर भाग जायगो—

बन०—कौन सो चोर?

चन्द्रा०—माखन को चोर, चीरन को चोर और मेरे चित्त को चोर।

बन०—सो कहाँ सों भाग जायगो?

चन्द्रा०—फेर बके जाय है, अरी मैंने अपनी आँखिन मैं मूँदि राख्यौ है सो तू चिल्लायगी तो निकसि भागैगो।

(बनदेवी, चन्द्रावली की पीठपर हाथ फेरती है)

चन्द्रा०—(जल्दी से उठ, बनदेवी का हाथ पकड़कर) कहो प्राणनाथ! अब कहाँ भागोगे?

(बनदेवी हाथ छुड़ाकर एक ओर वर्षा-संध्या दूसरी ओर वृक्षों के पास हट जाती है)

चन्द्रा०—अच्छा! क्या हुआ, यों ही हृदय से भी निकल जाओ तो जानूँ, तुमने हाथ छुड़ा लिया तो क्या हुआ मैं तो हाथ नही छोड़ने की। हा! अच्छी प्रीति निबाही!

(बनदेवी सीटी बजाती है)

चन्द्रा०—देखो दुष्ट का, मेरा तो हाथ छुडाकर भाग गया, अब न जानें कहाँ खड़ा बंसो बजा रहा है। अरे छलिया कहाँ छिपा है? बोल बोल कि जीते जी न बोलेगा! (कुछ ठहरकर) मत बोल, मैं आप पता लगा लूँगी। (बन के वृक्षों से पूछती है) अरे वृक्षों! बताओ तो मेरा लुटेरा कहाँ छिपा है? क्यों रे मोरो, इस समय नहीं बोलते? नही तो रात को बोल-बोल के प्राण खाए जाते थे। कहो न वह कहाँ छिपा है? (गाती है)

अहो अहो बन के रूख कहूँ देख्यौ पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहौ वह कितै सिधारो॥
अहो कदम्ब अहो अम्ब-निंब अहो बकुल-तमाला।
तुम देख्यो कहुँ मनमोहन सुन्दर नँदलाला॥
अहो कुंज बन लता बिरुध तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों॥
अहो जमुना अहो खग मृग हो अहो गोबरधन गिरि।
तुम देखे कहुँ प्रानपियारे मनमोहन हरि॥

(एक एक पेड़ से जाकर गले लगती है। बनदेवी फिर सीटी बजाती है)

चन्द्रा०—अहा ! देखो उधर खड़े प्राणप्यारे मुझे बुलाते हैं तो चलो उधर ही चलें। (अपने आभरण सँवारती है)

(वर्षा और सन्ध्या पास आती हैं)

वर्षा०—(हाथ पकड़कर) कहाँ चली सजि कै ?—

चन्द्रा०—पियारे सों मिलन काज,—

वर्षा०—कहाँ तू खड़ी है ?—

चन्द्रा०—प्यारे ही को यह धाम है।

वर्षा—कहा कहै मुखसों ?—

चन्द्रा०—पियारे प्रान प्यारे—

वर्षा०—कहा काज है ?

चन्द्रा०—पियारे सों मिलन मोहि काम है ॥

वर्षा०—मैं हूँ कौन बोल तौ ?—

चन्द्रा०—हमारे प्रानप्यारे हौ न ?—

वर्षा०—तू है कौन ?—

चन्द्रा०—पीतम पियारो मेरो नाम है।

सन्ध्या—(आश्चर्य से) पूछत सखी एकै कै उत्तर बतावति जकी सी एक रूप आज श्यामा भई श्याम है।

(बनदेवी आकर चन्द्रावली की पीछे से आँख बन्द करती है)

चन्द्रा०—कौन है, कौन है ?

बन०—मै हूँ।

चन्द्रा०—कौन तू है ?

बन०—(सामने आकर) मैं हूँ, तेरी सखी वृन्दा।

चन्द्रा०—तो मैं कौन हूँ ?

बन०—तू तो मेरी प्यारी सखी चन्द्रावली है न ? तू अपने हू को भूल गई।

चन्द्रा०—तो हम लोग अकेले बन में क्या कर रही हैं ?

बन०—तू अपने प्राणनाथै खोजि रही है न ?

चन्द्रा०—हा ! प्राणनाथ ! हा ! प्यारे ! प्यारे अकेले छोड़के कहाँ चले गए ? नाथ ! ऐसी ही बदी थी ! प्यारे यह वन इसी विरह का दुःख करने के हेतु बना है कि तुम्हारे साथ विहार करने को ? हा !

जो पै ऐसिहि करन रही।

तो फिर क्यों अपने मुख सों तुम रस की बात कही ॥

हम जानी ऐसिहि बीतैगी जैसी बीति रही।
सो उलटी कीनी बिधिना ने कछू नाहिं निबही॥
हमैं बिसारि अनत रहे मोहन औरै चाल गही।
'हरीचन्द' कहा को कहा है गयो कछु नहि जात कही॥

(रोती है)

बन०—(आँखों में आँसू भरके) प्यारी! अरी इतनी क्यों घबराई जाय है, देख तौ यह सखी खड़ी हैं सो कहा कहैंगी।

चन्द्रा०—ये कौन है?

बन०—(वर्षा को दिखाकर) यह मेरी सखी वर्षा है।

चन्द्रा०—यह वर्षा है तो हा! मेरा वह आनन्द का घन कहाँ है? हा! मेरे प्यारे! प्यारे कहाँ बरस रहे हौ? प्यारे गरजना इधर और बरसना और कहीं?

बलि साँवरी सूरत मोहनी मूरत
आँखिन को कबौं आइ दिखाइए।
चातक सी मरैं प्यासी परी
इन्हैं पानिप रूप सुधा कबौं प्याइए॥
पीत पटै बिजुरी से कबौं
'हरिचन्द जू' धाइ इतै चमकाइए।
इतहू कबौं आइकै आनँद के घन
नेह को मेह पिया बरसाइए॥

प्यारे! चाहे गरजो चाहे लरजो, इन चातकों की तो तुम्हारे बिना और गति ही नहीं है, क्योंकि फिर यह कौन सुनेगा कि चातक ने दूसरा जल पी लिया; प्यारे! तुम तो ऐसे करुणा के समुद्र हो कि केवल हमारे एक जाचक के माँगने पर नदी-नद भर देते हो तो चातक के इस छोटे चंचुपुट भरने में कौन श्रम है; क्योंकि प्यारे हम दूसरे पक्षी नहीं हैं कि किसी भाँति प्यास बुझा लेंगे। हमारे तो हे श्याम घन! तुम्हीं अवलम्ब हौ; हा!

(नेत्रों में जल भर लेती है और तीनों परस्पर चकित होकर देखती हैं)

बन०—सखी, देखि तौ कछू इनकी हू सुन कछू इनकी हू लाज कर। अरी, यह तो नई आई हैं ये कहा कहैंगी?

सन्ध्या—सखी, यह कहा कहै है हम तौ याकौ प्रेम देखि बिन मोल की दासी होय रहीं हैं और तू पंडिताइन बनिकै ज्ञान छाँटि रही है।

चन्द्रा०—प्यारे ! देखो ये सब हँसती हैं—तो हँसें, तुम आओ, कहाँ बन में छिपे हो ? तुम मुँह दिखलाओ, इनको हँसने दो।

धारन दीजिए धीर हिए कुलकानि को आजु बिगारन दीजिए।
मारन दीजिए लाज सबै 'हरिचन्द' कलंक पसारन दीजिए॥
चार चवाइन कों चहुँ ओर सों सोर मचाइ पुकारन दीजिए।
छाँड़ि संकोचन चंद-मुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिए॥

क्योंकि—

ये दुखियाँ सदा रोयो करैं बिधना इनको कबहूँ न दियो सुख।
झूठही चार चवाइन के डर देख्यौ कियो उनहीं को लिये रुख॥
छूँड़्यौ सबै 'हरिचन्द' तऊ न गयो जिय सों यह हाय महा दुख।
प्रान बचैं केहि भाँतिन सों तरसैं जब दूर सों देखिबे कों मुख॥

(रोती है)

बन०—(आँसू अपने आँचल से पोंछकर) तौ ये यहाँ नाँय रहिबे की, सखी ! एक घड़ी धीरज धर जब हम चली जायँ तब जो चाहियो सो करियो।

चन्द्रा०—अरी सखियो मोहि छमा करियो, अरी देखौ तो तुम मेरे पास आईं और हमने तुमारो कछू सिस्टाचार न कियो। (नेत्रों में आँसू भरकर हाथ जोड़कर) सखी ! मोहि छमा करियो और जानियो कि जहाँ मेरी बहुत सखी हैं उनमैं एक ऐसी कुलच्छिनी हू है।

सन्ध्या और वर्षा—नहीं नहीं सखी, तू तो मेरी प्रानन सों हू प्यारी है, सखी हम सच कहैं तेरी सी साँची प्रेमिन एक हू न देखी, ऐसे तो सबी प्रेम करैं पर तू सखी धन्य है।

चन्द्रा०—हाँ सखी, और (सन्ध्या को दिखाकर) या सखी को नाम का है ?

बन०—याको नाम सन्ध्या है।

चन्द्रा०—(घबड़ाकर) सन्ध्यावली आई ? क्या कुछ सँदेसा लाई ? कहो, कहो प्राणप्यारे ने क्या कहा ? सखी बड़ी देर लगाई ? (कुछ ठहर कर) सन्ध्या हुई ? सन्ध्या हुई ? तो वह बन से आते होंगे। सखियो, चलो झरोखों में बैठें, यहाँ क्यों बैठी हो ?

(नेपथ्य में चन्द्रोदय होता है; चन्द्रमा को देखकर)

अरे अरे वह देखो आया (उँगली से दिखाकर)

देख सखी देख अनमेख ऐसो भेख यह,
जाहि पेख तेज रबिहू को मंद ह्वै गयो।

'हरीचन्द' ताप सब जिय को नसाइ चित्त
आनँद बढ़ाइ भाइ अति छकि सों छयो ॥
ग्वाल-उडुगन बीच बेनु को बजाई सुधा-
रस बरखाइ मान कमल लजा दयो ।
गोरज-समूह घन पटल उघारि वह
गोप-कुल-कुमुद-निसाकर उदै भयो ॥

चलो चलो उधर चलो । (उधर दौड़ती है)

बन०—(हाथ पकड़कर) अरी बावरी भई है, चन्द्रमा निकस्यो है कै वह बन सों आवै है ?

चन्द्रा०—(घबड़ाकर) का सूरज निकस्यो ? भोर भयो । हाय ! हाय ! हाय ! या गरमी में या दुष्ट सूरज की तपन कैसें सही जायगी । अरे भोर भयो, हाय भोर भयो ! सब रात ऐसे ही बीत गई ! हाय फेर वही घर के व्यौहार चलेंगे, फेर वही नहानो, वही खानो, वेई बातें हाय !

केहिं पाप सों पापी न प्रान चलैं,
अटके कित कौन बिचार लयो ।
नहि जानि परै 'हरिचंद' कछू
बिधि ने हम सों हठ कौन ठयो ॥
निसि आजहू की गई हाय बिहाय
पिया बिनु कैसे न जीव गयो ।
हत-भागिनी आँखिन कों नित के
दुख देखिबे कों फिर भोर भयो ॥

तो चलो घर चलें । हाय ! हाय ! माँ सों कौन बहाना करूँगी, क्योंकि वह जात ही पूछैगी कि सब रात अकेली बन मैं कहा करती रही । (कुछ ठहर कर) पर प्यारे ! भला यह तो बताओ कि तुम आज की रात कहाँ रहे ? क्यों देखो तुम हमसे झूठ बोले न ! बड़े झूठे हो, हा ! अपनो से तो झूठ मत बोला करो, आओ आओ अब तो आओ ।

आओ मेरे झूठन के सिरताज ।
छल के रूप कपट की मूरत मिथ्यावाद-जहाज ॥
क्यों परतिज्ञा करी रह्यौ जो ऐसो उलटो काज ।
पहिले तो अपनाइ न आवत तजिबे में अब लाज ॥

चलो दूर हटो बड़े झूठे हो ।

आओ मेरे मोहन प्यारे झूठे।
अपनी टारि प्रतिज्ञा कपटी उलटे हम सों रूठे ॥
मति परसौ तन रँगे और के रग अधर तुव जूठे।
ताहू पै तनिकौ नहिं लाजत निरलज अहो अनूठे ॥

पर प्यारे बताओ तो तुम्हारे बिना रात क्यों इतनी बढ़ जाती है ?

काम कछू नहि यासो हमैं,
सुख सो जहाॅ चाहिए रैन बिताइए।
पै जो करैं बिनती 'हरिचन्द जू'
उत्तर ताको कृपा कै सुनाइए ॥
एक मतो उनसों क्यौं कियो तुम
सोऊ न आवै जो आप न आइए।
रूसिबे सों पिय प्यारे तिहारे
दिवाकर रूसत है क्यों बताइए ॥

जाओ जाओ मैं नहीं बोलती। (एक वृक्ष की आड़ मे दौड़ जाती है)

तीनों—भई यह तो बावरी सी डोलै, चलौ हम सब वृक्ष की छाया में बैठें। (किनारे एक पास ही तीनों बैठ जाती हैं)

चंद्रा०—(घबड़ाई हुई आती है, अंचल, केश इत्यादि खुल जाते हैं) कहाँ गया ? कहॉ गया ? बोल ! उलटा रूसना, भला अपराध मैंने किया कि तुमने ? अच्छा मैंने किया सही, क्षमा करो, आओ, प्रगट हो, मुँह दिखाओ। भई, बहुत भई, गुदगुदाना वहॉ तक जहॉ तक रुलाई न आवै। (कुछ सोचकर) हा ! भगवान् किसी को किसी की कनौड़ी न करै, देखो मुझको इसकी कैसी बातें सहनी पड़ती हैं ; आप ही नहीं भी आता उलटा आप ही रूसता है, पर क्या करूँ अब तो फँस गई ; अच्छा यो ही सही। ('अहो अहो बन के रूख' इत्यादि गाती हुई वृक्षों से पूछती है) हाय ! कोई नहीं बतलाता। अरे, मेरे नित के साथियों, कुछ तो सहाय करो।

अरे पौन सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यौं न कहौ राधिकारौन सों मौन निवारो ॥
अहे भँवर तुम श्याम रंग मोहन व्रत-धारी।
क्यौं न कहौ वा निठुर श्याम सों दसा हमारी ॥
अहे हँस तुम राजबंस सरवर की सोभा।
क्यौं न कहो मेरे मानस सों या दुख के गोभा ॥

हे सारस तुम नीके बिछुरन बेदन जानौ।
तौ क्यों पीतम सों नहि मेरी दसा बखानौ॥
हे कोकिल-कुल स्याम रंग के तुम अनुरागी।
क्यौं नहि बोलहु तहीं जाय जहँ हरि बड़भागी॥
हे पपिहा तुम पिउ पिउ पिय पिय रटत सदाई।
आजहु क्यों नहिं रटि रटि के पिय लेहु बुलाई॥
अहे भानु तुम तो घर-घर मे किरिन प्रकासो।
क्यौं नहिं पियहिं मिलाइ हमारो दुख तम नासो॥

हाय !

कोउ नहि उत्तर देत भए सबही निरमोही।
प्रानपियारे अब बोलौ कहॅा खोजौं तोही॥

(चन्द्रमा बदली की ओट हो जाता है और बादल छा जाते हैं)

(स्मरण करके) हाय ! मैं ऐसी भूली हुई थी कि रात को दिन बतलाती थी, अरे मैं किसको ढूँढ़ती थी ? हा ! मेरी इस मूर्खता पर उन तीनों सखियों ने क्या कहा होगा। अरे यह तो चन्द्रमा था जो बदली की ओट मे छिप गया। हा ! यह हत्यारिन बरषा रितु है, मैं तो भूल ही गई थी। इस ॲधेरे मे मार्ग तो दिखाता ही नही; चलूॅगी कहाँ और घर कैसे पहुॅचूॅगी ? प्यारे देखो, जो-जो तुम्हारे मिलने में सुहावने जान पड़ते थे वही अब भयावने हो गए। हा ! जो बन ऑखों से देखने में कैसा भला दिखाता था वही अब कैसा भयंकर दिखाई पड़ता है। देखो सब कुछ है एक तुम्हे नही हौ। (नेत्रों से आँसू गिरते हैं) प्यारे ! छोड़ के कहाँ चले गए ? नाथ ! ऑखें बहुत प्यासी हो रही हैं इनको रूप-सुधा कब पिलाओगे ? प्यारे ! बेनी की लट बँध गई है इन्हे कब सुलझाओगे ? (रोती है) नाथ, इन आँसुओं को तुम्हारे बिना और कोई पोंछनेवाला भी नही है। हा ! यह गत तो अनाथ की भी नहीं होती। अरे बिधिना ! मुझे कौन सा सुख दिया था जिसके बदले इतना दुःख देता है, सुख का तो मैं नाम सुनके चौंक उठती थी और धीरज धरके कहती थी कि कभी तो दिन फिरेंगे सो अच्छे दिन फिरे ! प्यारे ! बस बहुत भई अब नही सही जाती। मिलना हो तो जीते जी मिल जाओ। हाय ! जो भर आँखों देख भी लिया होता तो जी का उमाह निकल गया होता। मिलना दूर रहे, मै तो मुँह देखने को तरसती थी, कभी सपने में भी गले न लगाया, जब सपने में देखा तभी घबड़ा कर चौंक उठी। हाय ! इन घरवालों और बाहरवालों के पीछे कभी उनसे रो-रोकर अपनी बिपत भी न सुनाई कि जी भर जाता। लो घरवालों और बाहरवालों ! व्रज को सम्हालो

मैं तो अब यहीं··(कण्ठ गद्‌गद होकर रोने लगती है) हाय रे निठुर! मैं ऐसा निरमोही नहीं समझी थी, अरे इन बादलों की ओर देख के तो मिलता। इस ऋतु में तो परदेसी भी अपने घर आ जाते हैं पर तू न मिला। हा! मैं इसी दुख को देखने को जीती हूँ कि बरषा आवे और तुम न आओ। हाय! फेर बरषा आई, फेर पत्ते हरे हुए, फेर कोइल बोली, पर प्यारे तुम न मिले! हाय! सब सखियाँ हिंडोले झूलती होंगी, पर मैं किसके संग झूलूँ, क्योंकि हिंडोला झुलाने वाले मिलेंगे, पर आप भीजकर मुझे बचानेवाला और प्यारी कहनेवाला कौन मिलेगा? (रोती है) हा! मैं बड़ी निर्लज्ज हूँ। अरे प्रेम! मैंने प्रेमिन बनकर तुझे भी लज्जित किया कि अब तक जीती हूँ, इन प्रानों को अब न जाने कौन लाहे लूटने हैं कि नहीं निकलते। अरे कोई देखो, मेरी छाती वज्र की तो नहीं है कि अब तक··(इतना कहते ही मूर्छा खाकर ज्योंही गिरा चाहती है उसी समय तीनों सखियाँ सम्हालती हैं)।

(जवनिका गिरती है)

॥ प्रियान्वेषण नामक दूसरा अंक समाप्त ॥

दूसरे अंक के अंतर्गत

अंकावतार

स्थान—बीथी, वृक्ष

(संध्यावली दौड़ी हुई आती है)

संध्या०—राम राम ! मै तो दौरत दौरत हार गई, या ब्रज की गऊ का हैं सॉड़ हैं; कैसी एक साथ पूँछ उठाय कै मेरे संग दौरी है, तापैं वा निपूते सुबल को बुरो होय, और हू तूमड़ी बजाय कै मेरी ओर उन सबन को ल्हकाय दीनों, अरे जो मै एक संग प्रान छोड़ि कै न भाजती तौ उनके रपट्टा में कब की आय जाती । देखि आज वा सुबल की कौन गति कराऊँ, बड़ो ढीठ भयो है, प्रानन की हाँसी कौन काम की । देखौ तौ आज सोमवार है नंदगाँव मे हाट लगी होयगी मै वहीं जाती, इन सबन ने बीच ही आय घरी, मैं चन्द्रावली की पाती वाके यारै सौंप देती तो इतनो खुटकोऊ न रहतो । (घबड़ाकर) अरे आईं ये गौवे तो फेर इतैही कूँ अरराईं ।

(दौड़कर जाती है और चोली में से पत्र गिर पड़ता है । चंपकलता आती है)

चंपक०—(पत्र गिरा हुआ देखकर) अरे ! यह चिट्ठी किसकी पड़ी है, किसी की हो, देखूँ तो इसमें क्या लिखा है ? (उठाकर देखती है) राम राम ! न जाने किस दुखिया की लिखी है कि आँसुओं से भींजकर ऐसौ चिपट गई है कि पढ़ी ही नहीं जाती और खोलने मे फटी जाती है । (बड़ी कठिनाई से खोलकर पढ़ती है)

"प्यारे !

क्या लिखूँ ! तुम बड़े दुष्ट हौ, चलो, भला सब अपनी वीरता हमी पर दिखानी थी । हाँ ! भला मैने तो लोक-वेद, अपना-बिराना सब छोड़कर तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़कर क्या पाया ? और जो धर्म उपदेश करो तो धर्म से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता । निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती, मुँह ढँको फिर भी बोलने बिना डूबे जाते हो । चलो वाह ! अच्छी प्रीति निबाही । जो हो, तुम जानते ही हौ, हाय कभी न करूँगी योंहीं सही, अंत मरना है, मैंने अपनी ओर से खबर दे दी, अब मेरा दोष नहीं, बस ।

"केवल तुम्हारी"

तीसरा अंक

स्थान—तालाब के पास एक बगीचा

(समय तीसरा पहर, गहिरे बादल छाए हुए)

(झूला पड़ा है, कुछ सखी झूलती, कुछ इधर-उधर फिरती हैं)

(चन्द्रावली, माधवी, काममंजरी, विलासिनी इत्यादि एक स्थान पर बैठी हैं, चंद्रकाँता, वल्लभा, श्यामला, भामा झूले पर हैं, कामिनी और माधुरी हाथ में हाथ दिए घूमती हैं।)

कामिनी—सखी, देख बरसात भी अब की किस धूमधाम से आई है मानो कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है। धूम से चारों ओर घूम-घूमकर बादल परे के परे जमाए बगपंगति का निशान उड़ाए लपलपाती नंगी तलवार-सी बिजली चमकाते गरज-गरज कर डराते बान के समान पानी बरखा रहे हैं और इन दुष्टों का जी बढ़ाने को मोर करखा-सा कुछ अलग पुकार-पुकार गा रहे है। कुल की मरजाद ही पर इन निगोड़ों की चढ़ाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है और काम की उमंग जो अंग अंग में भरी हैं उनके निकले बिना जी तिलमिलाता है। ऐसे बादलों को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है और कैसे पतिव्रत पाल सकती है।

माधुरी—विशेष कर वह जो आप कामिनी हो। (हँसती है)

कामिनी—चल तुझे हँसने ही की पड़ी है। देख, भूमि चारों ओर हरी-हरी हो रही है। नदी-नाले बावली-तालाब सब भर गए। पच्छी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुप-चाप सकपके से होकर बैठे हैं। बीरबहूटी और जुगनूँ पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के करारे घमाधम टूटकर गिरते हैं। सर्प निकल-निकल कर अशरण से इधर-उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बन्द हो रहे है। परदेसी जो जिस नगर में हैं वहीं पड़े-पड़े पछता रहे हैं, आगे बढ़ नही सकते। वियोगियों को तो मानों छोटा प्रलय-काल ही आया है।

माधुरी—छोटा क्यों बड़ा प्रलयकाल आया है। पानी चारों ओर से उमड़ ही रहा है। लाज के बड़े-बड़े जहाज गारद हो चुके, भया फिर वियोगियों के हिसाब से तो संसार डूबा ही है, तो प्रलय ही ठहरा।

कामिनी—पर तुझको तो बटेकृष्ण का अवलम्ब है न, फिर तुझे क्या, भॉडीर वट के पास उस दिन खड़ी बात कर ही रही थी, गए हम—

माधुरी—और चन्द्रावली ?

कामिनी—हाँ चन्द्रावली विचारी तो आप ही गई बीती है, उसमें भी अब तो पहरे में है, नजरबन्द रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती, अब क्या—

माधुरी—जान दे नित्य का झंखना। देख, फिर पुरवैया झकोरने लगी और वृक्षों से लपटी लताएँ फिर से लरजने लगीं। साड़ियों के आँचल और दामन फिर उड़ने लगे और मोर लोगों ने एक साथ फिर शोर किया। देख यह घटा अभी गरज गई थी पर फिर गरजने लगी।

कामिनी—सखी बसन्त का ठंढा पवन और सरद की चाँदनी से राम राम करके वियोगियों के प्राण बच भी सकते हैं, पर इन काली-काली घटा और पुरवैया के झोंके तथा पानी के एकतार झमाके से तो कोई भी न बचेगा।

माधुरी—तिसमें तू तो कामिनी ठहरी, तू बचना क्या जाने।

कामिनी—चल ठठोलिन। तेरी आँखों में अभी तक उस दिन की खुमारी भरी है, इसी से किसी को कुछ नहीं समझती। तेरे सिर बीते तो मालूम पड़े।

माधुरी—बीती है मेरे सिर। मैं ऐसी कच्ची नहीं कि थोड़े मे बहुत उबल पड़ूँ।

कामिनी—चल, तू हुई है क्या कि न उबल पड़ेगी। स्त्री की बिसात ही कितनी बड़े-बड़े जोगियों के ध्यान इस बरसात में छूट जाते है, कोई जोगी होने ही पर मन ही मन पछताते है, कोई जटा पटककर हाय-हाय चिल्लाते हैं, और बहुतेरे तो तूमड़ी तोड़-तोड़कर जोगी से भोगी हो ही जाते हैं।

माधुरी—तो तू भी किसी सिद्ध से कान फुँकवाकर तूमड़ी तोड़वा ले।

कामिनी—चल! तू क्या जाने इस पीर को। सखी, यही भूमि और यही कदम कुछ दूसरे ही हो रहे हैं· और यह दुष्ट बादल मन ही दूसरा किए देते हैं। तुझे प्रेम हो तब सूझे। इस आनन्द की धुनि में संसार ही दूसरा एक विचित्र शोभावाला और सहज काम जगानेवाला मालूम पड़ता है।

माधुरी—कामिनी पर काम का दावा है। इसी से हेर-फेर उसी को बहुत छेड़ा करता है।

(नेपथ्य में बारम्बार मोर कूँकते हैं)

कामिनी—हाय-हाय! इस कठिन कुलाहल से बचने का उपाय एक विषपान ही है। इन दईमारों का कूकना और पुरवैया का झकझोर कर चलना यह दो बातें बड़ी कठिन हैं। धन्य हैं वे जो ऐसे समय में रङ्ग-रङ्ग के कपड़े पहिने ऊँची-ऊँची अटारियों पर चढ़ी पीतम के संग घटा और हरियाली देखती हैं

वा बगीचो, पहाड़ों और मैदानों मे गलबाहीं डाले फिरती है। दोनों परस्पर पानी बचाते है और रङ्गीन कपड़े निचोड़ कर चौगुना रङ्ग बढ़ाते है। झूलते हैं, झुलाते हैं, हँसते हैं, हँसाते है, भीगते हैं, भिगाते हैं, गाते है, गवाते हैं, और गले लगते हैं, लगाते हैं।

माधुरी—और तेरो न कोई पानी बचानेवाला, न तुझे कोई निचोड़ने वाला, फिर चौगुने की कौन कहे ड्यौढ़ा सवाया तो तेरा रंग बढ़ेहीगा नहीं।

कामिनी—चल लुञ्चिन ! जाके पायें न भई बिवाई सो क्या जानै पीर पराई।

(बात करती-करती पेड़ की आड़ मे चली जाती है)

माधवी—(चन्द्रावली से) सखी श्यामला का दर्शन कर, देख कैसी सुहावनी मालूम पड़ती है। मुखचंद्र पर चूनरी चुई पड़ती है। लटें सगबगी होकर गले मे लपट रही है। कपड़े अंग मे लपट गए हैं। भीगने से मुख का पान और काजल सबकी एक विचित्र शोभा हो गई है।

चंद्रा—क्यों न हो। हमारे प्यारे की प्यारी है। मैं पास होती तो दोनों हाथो से इसकी बलैया लेती और छाती से लगाती।

का० मं०—सखी, सचमुच आज तो इस कदंब के नीचे रंग बरस रहा है। जैसा समा बँधा है वैसी ही झूलने वाली हैं। झूलने में रंग-रंग की साड़ी की अर्द्ध-चंद्राकार रेखा इन्द्रधनुष की छबि दिखाती है। कोई सुख से बैठी झूले की ठण्ढी-ठण्ढी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे लाँग कसे पेग मारती है, कोई गाती है, कोई डरकर दूसरी के गले में लपट जाती है, कोई उतरने को अनेक सौगन्द देती है, पर दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती है।

माधवी—हिंडोरा ही नहीं झूलता। हृदय मे प्रीतम को झुलाने के मनोरथ और नैनों में पिया की मूर्ति भी झूल रही है। सखी, आज साँवला ही की मेंहदी और चूनरी पर तो रंग है। देख बिजुली की चमक मे उसकी मुखछबि कैसी सुन्दर चमक उठती है और वैसे पवन भी बार-बार घूँघट उलट देता है। देख—

हूलति हिये में प्रानप्यारे के बिरह-सूल
फूलति उमंगभरी झूलति हिंडोरे पै।
गावति रिझावति हँसावति सबन 'हरि-
चंद' चाव चौगुनो बढ़ाइ घन घोरे पै॥
वारि वारि डारौं प्रान हँसनि मुरनि बत-
रान मुँह पान कजरारे दृग डोरे पै।

ऊनरी घटा मैं देखि दूनरी लगी है आहा
कैसी आजु चूनरी फबी है मुख गोरे पै ॥

चन्द्रा०—सखियो, देखो कैसो अन्धेर और गजब है कि या रुत मैं सब अपने मनोरथ पूरो करैं और मेरी यह दुरगत होय ! भलो काहुवै तो दया आवती । (आँखो मे आँसू भर लेती है)

माधवी—सखी तू क्यो उदास होय है । हम सब कहा करैं, हम तो आज्ञाकारिणी ठहरीं, हमारो का अखत्यार है तऊ हममै सों तो कोऊ कछू तोहि नायँ कहै ।

का० म०—भलो सखी, हम याहि कहा कहैगी ! याहू तो हमारी छोटी स्वामिनी ठहरी ।

विलासिनी—हाँ सखी ! हमारी तो दोऊ स्वामिनी हैं । सखी ! बात यह है कै खराबी तो हम लोगन की है, ये दोऊ फेर एक की एक होयँगी । लाठी मारवे सो पानी थोरों हूँ जुदा होयगो, पर अभी जो सुन पावैं कि ढिमकी सखी ने चन्द्रावलियै अकेलि छोड़ि दीनी तो फेर देखौ तमासा ।

माधवी—हम्बै बीर । और फेर कामहू तौ हमीं सब बिगारैं । अब देखि कौन नै स्वामिनी सों चुगली खाई । हमारेई तुमारे मे सों वहू है । सखी चन्द्रावलियै जो दुःख देयगी वह आप दुःख पावैगी ।

चन्द्रा०--(आप ही आप) हाय ! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते । प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ ? प्यारे, यह संजोग हमको तो अब की ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जायेंगी । हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूँ ! प्यारे, रात छोटी है और स्वाँग बहुत हैं । जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा । हाय ! मुझ-सी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं । रात-दिन रोते ही बीतते हैं । कोई बात पूछनेवाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर ही की बात देखते हैं । हाय ! मैं तो अपने-पराए सबसे बुरी बनकर बेकाम हो गई । सबको छोड़ कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की । हाय ! मैं किसकी होके रहूँ, मैं किसका मुँह देखकर जिऊँ । प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहनेवाला न मिलेगा । प्यारे, फिर दीया लेकर मुझको खोजोगे । हा ! तुमने विश्वासघात किया । प्यारे, तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलेगी । हमारा तो कपोत-व्रत है । हाय स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो । बकरा जान से गया, पर खानेवाले को स्वाद न मिला !

हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे। वाह ! खूब निबाह किया। बधिक भी बधकर सुध लेता है, पर तुमने न सुध ली। हाय ! एक बेर तो आकर अंक में लगा जाओ। प्यारे, जीते जी आदमी का गुन नहीं मालूम होता। हाय ! फिर तुम्हारे मिलने को कौन तरसेगा और कौन रोएगा। हाय ! संसार छोड़ा भी नहीं जाता। सब दुःख सहती हूँ, पर इसी में फँसी पड़ी हूँ। हाय नाथ ! चारों ओर से जकड़ कर ऐसी बेकाम क्यों कर डाली है। प्यारे, यों ही रोते दिन बीतेंगे। नाथ ! यह हौस मन की मन ही मे रह जायगी। प्यारे, प्रगट होकर संसार का मुँह क्यों नही बन्द करते और क्यो शकाद्वार खुला रखते हो ? प्यारे, सब दीनदयालुता कहाँ गई ! प्यारे, जल्दी इस संसार से छुड़ाओ। अब नही सही जाती। प्यारे, जैसी हैं, तुम्हारी हैं। प्यारे, अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुन सीखे वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा ? हाय ! मँझधार मे डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो; प्यारे सो भी दे चुकी, अब तो पार लगाओ। प्यारे, सबकी हद होती है। हाय ! हम तड़पे और तुम तमाशा देखो। जन-कुटुम्ब से छुड़ाकर यों छितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन बात है। हाय ! सबकी आँखों में हलकी हो गई। जहाँ जाओ वहाँ दुर दुर, उस पर यह गति ! हाय ! "भामिनी ते भौंड़ी करी, मानिनी ते मौड़ी करी, कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें।" तुम पर बड़ा क्रोध आता है और कुछ कहने को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूँगी। और क्या कहूँ, बस आप आप ही हो, देखो गाली में भी तुम्हे मै मर्मवाक्य कहूँगी—झूठे, निर्दय, निर्घृण, "निर्दय हृदय कपाट", बखेड़िये और निर्लज्ज, ये सब तुम्हें सच्ची गालियाँ हैं; भला जो कुछ करना ही नहीं था तो इतना क्यों झूठ बके ? किसने बकाया था ? कूद-कूदकर प्रतिज्ञा करने बिना क्या डूबी जाती थी ? झूठे ! झूठे !! झूठे !!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक ! क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया ? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम मे पड़ते, और उस पर तुर्रा यह है कि किसी को चाहे कितना भी दुखी देखें आपको कुछ घृणा तो होती ही नहीं। हाय-हाय कैसे-कैसे दुखी लोग हैं—और मजा तो यह है कि सब धान बाइस पसेरी। चाहे आपके वास्ते दुखी हो, चाहे अपने संसार के दुःख से; आपको दोनों उल्लू फँसे हैं। इसीसे तो "निर्दय हृदय कपाट" यह नाम है। भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया ? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था ?

कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते बस चैन था, केवल आनन्द था, फिर क्यों यह विषमय संसार किया। बखेड़िये! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, आप भी अपने मुँह झूठे बनें, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता! बेशरमी हो तो इतनी तो हो। क्या कहना है! लाज को जूतों मार के पीट-पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले मे आप रहते हैं उस मुहल्ले में लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसे हो। हाय! एक बेर भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मत-वाले बने क्यों लड़-लड़कर सिर फोड़ते। अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो, काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे, हुकुमी बेहया हो, कितनी गाली दूँ, बड़े भारी पूरे हो, शरमाओगे थोड़े ही कि माथा खाली करना सुफल हो, जाने दो—हम भी तो वैसी ही निर्लज्ज और झूठी हैं। क्यों न हों। जस दूलह तस बनी बराता। पर इसमें भी मूल उपद्रव तुम्हारा ही है, पर यह जान रखना कि इतना और कोई न कहेगा, क्योंकि सिपारसी नेति नेति कहेंगे, सच्ची थोड़े ही कहेंगे। पर यह तो कहो कि यह दुःखमय पचड़ा ऐसा ही फैला रहेगा कि कुछ तै भी होगा, वा न तै होय। हमको क्या? पर हमारा तो पचड़ा छुड़ाओ। हाय मैं किससे कहती हूँ। कोई सुननेवाला है। जंगल में मोर नाचा किसने देखा। नहीं नहीं वह सब देखता है, वा देखता होता तो अब तक मेरी खबर न लेता। पत्थर होता तो वह भी पसीजता। नहीं, नहीं मैंने प्यारे को इतना दोष व्यर्थ दिया। प्यारे, तुम्हारा दोष कुछ नहीं। यह सब मेरे करम का दोष है। नाथ, मैं तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ। प्यारे, क्षमा करो। मेरे अपराधों की ओर न देखो, अपनी ओर देखो। (रोती है)

माधवी—हाय-हाय सखियों! यह तो रोय रही है।

काम मं०—सखी प्यारी! रोवै मती। सखी तोहि मेरे सिर की सौंह जो रोवै।

माधवी—सखी, मैं तेरे हाथ जोड़ूँ मत रोवै। सखी! हम सबन को जीव भरयो आवै है।

विला०—सखी, जो तू कहैगी हम सब करैंगी। हम भले ही प्रियाजी की रिस सहैगी, पर तोसूँ हम सब काहू बात सों बाहर नहीं।

माधवी—हाय-हाय! यह तो मानै ही नहीं। (आँसू पोंछकर) मेरी प्यारी, मैं हाथ जोड़ूँ हा हा खाऊँ, मानि जा।

काम मं०—सखी यासों मति कछू कहौ। आओ हम सब मिलि कै विचार करैं जासों याको काम होय।

विला०—सखी, हमारे तो प्रान ताईं यापैं निछावर हैं पर जो कछू उपाय सूझै।
चन्द्रा०—(रोकर) सखी, एक उपाय मुझे सूझा है जो तुम मानो।
माधवी—सखी, क्यों न मानैंगी तू कहै क्यौ नही।
चन्द्रा—सखी, मुझे यहाँ अकेली छोड़ जाओ।
माधवी—तो तू अकेली यहाँ का करेगी?
चन्द्रा—जो मेरी इच्छा होगी।
माधवी—भलो तेरी इच्छा का होयगी हमहूँ सुनै?
चन्द्रा—सखी, वह उपाय कहा नहीं जाता।
माधवी—तौ का अपनो प्रान देगी। सखी, हम ऐसी भोरी नहीं है कै तोहि अकेली छोड़ जायँगी।
विला०—सखी, तू व्यर्थ प्रान देने को मनोरथ करै है, तेरे प्रान तोहि न छोड़ैंगे। जौ प्रान तोहि छोड़ जायँगे तो इनको ऐसो सुन्दर शरीर फेर कहाँ मिलैगो।
का० मं०—सखी, ऐसी बात हम सूँ मति कहै, और जो कहै सो सो हम करिबे को तयार हैं, और या बात को ध्यान तू सपने हू मैं मति करि। जब ताईं हमारे प्रान हैं तब ताईं तोहि न मरन देयगी। पीछे भलेईं जो होय सो होय।
चन्द्रा०—(रोकर) हाय! मरने भी नही पाती। यह अन्याय!
माधवी—सखी, अन्याय नहीं यही न्याय है।
का० मं०—जान दै माधवी वासों मति कछु पूछै। आओ हम तुम मिलकै सल्लाह करै, कि अब का करनो चाहिए।
विला०—हाँ माधवी, तू चतुर है, तू ही उपाय सोच।
माधवी—सखी, मेरे जी में तौ एक बात आवै। हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँटि लें। प्यारीजू के मनाइबे को मेरी जिम्मा। यही काम सबमे कठिन है और तुम दोउन मैं सो एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावै और एक लालजू सों मिलिबे की कहै।
का० मं०—लालजी सों मैं कहूँगी। मैं विन्नै बहुती लजाऊँगी और जैसे होयगो वैसे यासों मिलाऊँगी।
माधवी—सखी, वेऊ का करैं। प्रियाजी के डर सों कछू नहीं कर सकैं।
विला०—सो प्रियाजी को जिम्मा तेरो हई है।
माधवी—हाँ, हाँ, प्रियाजी को जिम्मा मेरो।
विला०—तौ याके घर को मेरो।
माधवी—भयो, फेर का। सखी काहू बात को सोच मति करै। उठि।

चन्द्रा०—सखियों ! व्यर्थ क्यों यत्न करती हौ। मेरे भाग्य ऐसे नहीं हैं कि कोई काम सिद्ध हो।

माधवी—सखी, हमारे भाग्य तो सीधे हैं। हम अपने भाग्यबल सों सब काम करैंगी।

का० मं०—सखी, तू व्यर्थ क्यों उदास भई जाय है। जब तक साँसा तब तक आसा।

माधवी—तौ सखी बस अब यह सलाह पक्की भई। जब ताईं काम सिद्ध न होय तब ताईं काहुवै खबर न परै।

विला०—नहीं, खबर कैसे परैगी ?

का० मं०—(चन्द्रावली का हाथ पकड़कर) लै सखी, अब उठि। चलि हिंडोरें झूलि।

माधवी—हाँ सखी, अब तौ अनमनोपन छोड़ि।

चन्द्रा०—सखी, छूटा ही सा है, पर मैं हिंडोरे न झूलूँगी। मेरे तो नेत्र आप ही हिंडोरे झूला करते हैं।

पल-पटुली पै डोर-प्रेम की लगाय चारू
आसा ही के खंभ दोय गाड़ कै धरत हैं।
झुमका ललित काम पूरन उछाह भरयो
लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं॥
'हरीचंद' ऑसू दृग नीर बरसाई प्यारे
पिया-गुन-गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोंटन बढ़ाइ सदा
विरह-हिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं॥

और सखी, मेरा जी हिंडोरे पर ओर उदास होगा।

माधवी—तौ सखी, तेरी जो प्रसन्नता होय ! हम तौ तेरे सुख की गाहक हैं।

चन्द्रा०—हा ! इन बादलों को देखकर तो और भी जी दुखी होता है।

देखि घन स्याम घनस्यामकी सुरति करि
जिय मैं बिरह घटा घहरि-घहरि उठै।
त्यौंहीं इंद्रधनु-बगमाल देखि बनमाल
मोतीलर पी की जय लहरि-लहरि उठै॥
'हरीचंद' मोर-पिक-धुनि सुनि बंसीनाद
बाँकी छबि बार-बार छहरि-छहरि उठै॥

देखि-देखि दामिनी की दुगुन दमक पीत-
पट-छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै ॥

हाय ! जो बरसात संसार को सुखद है वह मुझे इतनी दुखदायिनी हो रही है।

माधवी—तौ न दुखदायिनी होयगी चल उठि घर चलि।

का० मं०—हाँ, चलि। (सब जाती हैं)

(जवनिका गिरती है)

॥ वर्षा-वियोग-विपत्ति नामक तृतीय अंक ॥

चौथा अंक

स्थान—चन्द्रावली जी की बैठक

(खिड़की में से यमुनाजी दिखाई पड़ती हैं। पलँग बिछा हुआ, परदे पड़े हुए, इतरदान, पानदान इत्यादि सजे हुए)

(जोगिन[1] आती है)

जोगिन—अलख ! अलख ! आदेश आदेश गुरू को ! अरे कोई है इस घर में ? कोई नहीं बोलता। क्या कोई नही है ? तो अब मैं क्या करूँ ? बैठूँ। क्या चिन्ता है। फकीरों को कहीं कुछ रोक नहीं। उसमें भी हम प्रेम के जोगी, तो अब कुछ गावैं।

(बैठकर गाती है)

"कोई एक जोगिन रूप कियैं।
भौहैं बंक छकोहै लोयन चलि-चलि कोयन कान छियैं ॥
सोभा लखि मोहत नारी नर बारि फेरि जल सबहिं पियैं।
नागर मनमथ अलख जगावत गावत काँधे बीन लियैं" ॥
बनी मनमोहिनी जोगिनियाँ।
गल सेली तन गेरुआ सारी केस खुले सिर बैंदी सोहिनियाँ ॥
मातै नैन लाल रंग डोरे मद बोरे मोहै सबन छलिनियाँ।
हाथ सरंगी लिए बजावत गाय जगावत बिरह अगिनियाँ[2] ॥
जोगिन प्रेम की आई।
बड़े-बड़े नैन छुए कानन लौं चितवन-मद अलसाई ॥
पूरी प्रीति रीति रस-सानी प्रेमी-जन मन भाई ॥
नेह-नगर मैं अलख जगावत गावत बिरह बधाई ॥
जोगिन-आँखन प्रेम-खुमारी।
चंचल लोयन-कोयन खुभि रही काजर रेख ढरारी ॥

---

१. गेरूआ सारी, गहना सब जनाना पहिने, रंग साँवला। सदुर का लंबा टीका बेंड़ा। बाल खुले हुए। हाथ में सरंगी लिए हुए। नेत्र लाल। अत्यन्त सुन्दर। जब-जब गावेगी सरंगी बजाकर गावेगी।

२. काफी।

३. चैती गौरी वा पीलू खेमटा।

डोरे लाल लाल रस बोरे फैली मुख उँजियारी ॥
हाथ सरंगी लिए बजावत प्रेमिन-प्रानपियारी ॥
जोगिन मुख पर लट लटकाई ।
कारी घूँघरवारी प्यारी देखत सब मन भाई ।
छूटे कैस गेरुआ बागे सोभा दुगुन बढ़ाई ।
साँचे ढरी प्रेम की मूरति अँखियाँ निरखि सिराई ॥

(नेपथ्य में से पैजनी की झनकार सुनकर)

अरे कोई आता है। तो मैं छिप रहूँ। चुपचाप सुनूँ। देखूँ यह सब क्या बातें करती हैं।

(जोगिन जाती है, ललिता आती है)

ललिता—हैं! अब तक चन्द्रावली नहीं आई। साँझ हो गई, न घर में कोई सखी है न दासी, भला कोई चोर-चकार चला आवै तो क्या हो। (खिड़की की ओर देखकर) अहा! जमुनाजी की कैसी शोभा हो रही है। जैसा वर्षा का बीतना और शरद का आरंभ होना वैसा ही वृन्दावन के फूलों की सुगंधि से मिले हुए पवन की झकोर से जमुनाजी का लहराना कैसा सुन्दर और सुहावना है कि चित्त को मोहे लेता है। आहा! जमुनाजी की शोभा तो कुछ कही ही नहीं जाती। इस समय चन्द्रावली होती तो यह शोभा उसे दिखाती, वा वह देख ही के क्या करती, उलटा उसका विरह और बढ़ता। (यमुनाजी की ओर देखकर) निस्सदेह इस समय बड़ी ही शोभा है।

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाए ॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परन पावन फल लोभा ॥
मनु आतप बारन तीर कों समिटि सबै छाए रहत।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत ॥
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन ॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज सोभा।
कै उमगे पिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा ॥
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई ॥

कै पियपद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तियगन-बदन-कमल की झलकत झाईं।
कै ब्रज हरिपद-परस हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमण्डल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत॥
तिन पैं जेहि छिन चंद-जोति राका निसि आवति।
जल में मिलिकै नभ अवनी लौं तान तनावति॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्ज्वल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा॥
सो को कबि जो छबि कहि सकै ता छन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहत छबि इकसी नभ तीर की॥
परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिए सोभित छबि छायो॥
कै रास रमन मै हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति बसति ता प्रतिबिम्ब लखात है॥
कबहुँ होत सत चन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल मैं बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुनजल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै॥
कै बालगुड़ी नभ, मैं उड़ी सोहत इत-उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती॥
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल॥
कै कालिन्दी नीर तरंग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत॥
कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसिपति मल्ल अनेक बिधि उठि बैठत कसरत करत॥
कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारण्डव उडत कहूँ जलकुक्कुट धावत॥

चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर बिबिध पच्छी करत।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत॥
कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्ज्ल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाए।
रत्नरासि करि चूर कूल मै मनु बगराए॥
मनु मुक्त माँग सोभित भरो श्यामनीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै तीर मैं व्रज निवास लखि हिय हरसि॥

(चन्द्रावली अचानक आती है)

चन्द्रा०—वाह वाहरी बैहना आजु तो बड़ी कबिता करी। कबिताई की मोट की मोट खोलि दीनी। मैं सब छिपे छिपें सुनती थी।

(दबे पाँव से जोगिन आकर एक कोने मे खड़ी हो जाती है)

ललिता—भलो-भलो बीर, तोहि कबिता सुनिबे की सुधि तो आई, हमारे इतनोई बहुत है।

चन्द्रा०—(सुनते ही स्मरणपूर्वक लम्बी साँस लेकर)

सखी री क्यौं सुधि मोहि दिवाई।
हौं अपने गृह-कारज भूली भूलि रही बिलमाई॥
फेर वहै मन भयो जात अब मरिहौं जिय अकुलाई।
हौं तबही लौं जगत-काज की जब लौं रहौं भुलाई॥

ललिता—जल जान दे, दूसरी बात कर।

जोगिन—(आप ही आप) निस्संदेह इसका प्रेम पक्का है, देखो मेरी सुधि आते ही इसके कपोलों पर कैसी एक साथ जरदी दौड़ गयी। नेत्रों मे आँसुओं का प्रवाह उमग आया। मुँह सूखकर छोटा-सा हो गया। हाय! एक ही पल मे यह तो कुछ की कुछ हो गयी। अरे इसकी तो यही गति है—

छरी-सी छकी-सी जड़ भई-सी जकी-सी घर
हारी-सी बिकी-सी सो तो सबही घरी रहै।
बोले तें न बोलै दृग खोलै नाहिं डोलै बैठी
एकटक देखै सो खिलौना-सी धरी रहै।

'हरीचंद' औरो घबरात समुझाएँ हाय
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै॥
याद आएँ सखिन रोवावै दुख कहि-कहि
तौ लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै॥

अब तो मुझसे रहा नही जाता। इससे मिलने को अब तो सभी अंग व्याकुल हो रहे हैं।

चन्द्रा०—(ललिता की बात सुनी-अनसुनी करके बाएँ अंग का फरकना देखकर आप ही आप) अरे यह असमय मे अच्छा सगुन क्यों होता है। (कुछ ठहरकर) हाय आशा भी क्या ही बुरी वस्तु है और प्रेम भी मनुष्य को कैसा अंधा कर देता है। भला वह कहाँ और मैं कहाँ—पर जी इसी भरोसे पर फूला जाता है कि अच्छा सगुन हुआ है तो जरूर आवेंगे। (हँसकर) हूँ—उनको हमारी इस बखत फिकिर होगी। "मान न मान मैं तेरा मेहमान", मन को अपने ही मतलब की सूझती है। "मेरो पिय मोहि बात न पूछै तऊ सोहागिन नाम"। (लम्बी साँस लेकर) हा! देखो प्रेम की गति! यह कभी आशा नही छोड़ती। जिसको आप चाहो वह चाहे झूठ-मूठ भी बात न पूछे पर अपने जी को यह भरोसा रहता है कि वे भी जरूर ही इतना चाहते होंगे। (कलेजे पर हाथ रखकर) रहो-रहो क्यों उमगे आते हो, धीरज धरो, वे कुछ दीवार मे से थोड़े ही निकल आवेंगे।

जोगिन—(आप ही आप) होगा प्यारी, ऐसा ही होगा। प्यारी मै तो यहीं हूँ। यह मेरा ही कलेजा है कि अंतर्यामी कहलाकर भी अपने लोगों से मिलने में इतनी देर लगती है। (प्रगट सामने बढ़कर) अलख! अलख!

(दोनों आदर करके बैठती हैं)

ललिता—हमारे बड़े भाग जो आपुसी महात्मा के दरसन भए।

चन्द्रा०—(आप ही आप) न जानें क्यों इस जोगिन की ओर मेरा मन आपसे आप खिंचा जाता है।

जोगिन—भलो हम अतीतन को दरसन कहा, यों ही नित्य ही घर-घर डोलत फिरैं।

ललिता—कहाँ तुम्हारो देस है?

जोगिन—प्रेम नगर पिय गाँव।

ललिता—कहा गुरू कहि बोलहीं?

जोगिन—प्रेमी मेरो नाँव॥

ललिता—जोग लियो केहि कारनै?

जोगिन—अपने पिय के काज।
ललिता—मंत्र कौन ?
जोगिन—पियनाम इक,
ललिता—कहा तज्यो ?
जोगिन—जग-लाज ॥
ललिता—आसन कित ?
जोगिन—जितही रमे,
ललिता—पंथ कौन ?
जोगिन—अनुराग।
ललिता—साधन कौन ?
जोगिन—पिया-मिलन,
ललिता—गादी कौन ?
जोगिन—सुहाग ॥

नैन कहें गुरु मन दियो बिरह सिद्धि उपदेस।
तब सों सब कुछ छोड़ि हम फिरत देस-परदेस ॥

चन्द्रा०—(आप ही आप) हाय ! यह भी कोई बड़ी भारी ब्रियोगिन है तभी इसकी ओर मेरा मन आपसे आप खिंचा जाता है।

ललिता—तौ संसार को जोग तो और ही रकम को है और आप को तो पंथ ही दूसरो है। तो भला हम यह पूछैं कि का संसार के और जोगी लोग वृथा जोग साधे हैं ?

जोगिन—यामैं का सन्देह है, सुनो। (सारंगी छेड़कर गाती है)

पचि मरत वृथा सब लोग जोग सिर धारी।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी ॥
बिरहागिन धूनी चारों ओर लगाई।
बँसी धुनि की मुद्रा कानो पहिराई ॥
अँसुअन की सेली गल में लगत सुहाई।
तन धूर जमी सोइ अंग भभूत रमाई ॥
लट उरझि रही सोइ लटकाई लट कारी।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी ॥
गुरु बिरह दियो उपदेस सुनो ब्रजबाला।
पिय बिछुरन दुख बिछाओ तुम मृगछाला ॥

मन के मनके की जपो पिया की माला।
बिरहिन की तो हैं सभी निराली चाला॥
पीतम से लगि लौ अचल समाधि न टारी।
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी॥
यह है सुहाग का अचल हमारे बाना।
असगुन की मूरति खाक न कभी चढ़ाना॥
सिर सेंदुर देकर चोटी गूँथ बनाना।
कर चूरी मुख मे रंग तमोल जमाना॥
पीना प्याला भर रखना वही खुमारी।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी॥
है पंथ हमारा नैनो के मत जाना।
कुल लोक वेद सब औ परलोक मिटाना॥
शिवजी से जोगी को भी जोग सिखाना।
'हरिचंद' एक प्यारे से नेह बढ़ाना॥
ऐसे बियोग पर लाख जोग बलिहारी।
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी॥

चन्द्रा०—(आप ही आप) हाय-हाय! इसका गाना कैसा जी को बेधे डालता है। इसके शब्द का जी पर एक ऐसा विचित्र अधिकार होता है कि वर्णन के बाहर है। या मेरा जी ही चोटल हो रहा है। हाय-हाय! ठीक प्रान-प्यारे की-सी इसकी आवाज है। (बलपूर्वक आँसुओं को रोककर और जी बहला कर) कुछ इससे और गवाऊँ। (प्रगट) जोगिन जी कष्ट न हो तो कुछ और गाओ। (कहकर कभी चाव से उसकी ओर देखती है और कभी नीचा सिर करके कुछ सोचने लगती है)

जोगिन—(मुस्कराकर) अच्छा प्यारी सुनो। (गाती है)

जोगिन-रूपसुधा की प्यासी।
बिन पिय मिलें फिरत बन ही बन छाई मुखहि उदासी॥
भोग छोड़ि धन-धाम काम तजि भई प्रेम-बनबासी।
पिय-हित अलख अलख रट लागी पीतम-रूप उपासी॥
मनमोहन प्यारे तेरे लिए जोगिन बन बन-बन छान फिरी।
कोमल से तन पर खाक मली ले जोग स्वाँग सामान फिरी॥

तेरे दरसन कारन डगर-डगर करती तेरा गुन-गान फिरी।
अब तो सूरत दिखला प्यारे 'हरिचंद' बहुत हैरान फिरी॥

चन्द्रा०—(आप ही आप) हाय यह तो सभी बाते पते की कहती है। मेरा कलेजा तो एक साथ ऊपर को खिंचा जाता है। हाय! 'अब तो सूरत दिखला प्यारे।'

जोगिन—तो अब तुमको भी गाना होगा। यहाँ तो फकीर हैं। हम तुम्हारे सामने गावे तुम हमारे सामने न गाओगी। (आप ही आप) भला इसी बहाने प्यारी की अमृत बानी तो सुनेंगे। (प्रगट) हाँ! देखो हमारी यह पहिली भिक्षा खाली न जाय, हम तो फकीर है हमसे कौन लाज है?

चन्द्रा०—भला मैं गाना क्या जानूँ। और फिर मेरा जी भी आज अच्छा नही है, गला बैठा हुआ है। (कुछ ठहरकर नीची आँख करके) और फिर मुझे सकोच लगता है।

जोगिन—(मुसक्याकर) वाह रे संकोचवाली! भला मुझसे कौन संकोच है? मैं फिर रूठ जाऊँगी जो मेरा कहना न करेगी।

चन्द्रा०—(आप ही आप) हाय-हाय! इसकी कैसी मीठी बोलन है जो एक साथ जी को छीने लेती है। जरा से झूठे क्रोध से जो इसने भौहे तनेनी की हैं वह कैसी भली मालूम पड़ती है। हाय! प्राननाथ कही तुम्ही तो जोगिन नहीं बन आए हो। (प्रगट) नहीं-नहीं, रूठो मत, मैं क्यो न गाऊँगी। जो भला-बुरा आता है सुना दूँगी, पर फिर भी कहती हूँ आप मेरे गाने से प्रसन्न न होंगी। ऐ मैं हाथ जोड़ती हूँ मुझे न गवाओ। (हाथ जोड़ती है)

ललिता—वाह, तुझे नए पाहुने की बात अवश्य माननी होगी। ले मै तेरे हाथ जोड़े हूँ, क्यौ न गावगी। यह तो उससे बहाली बता जो न जानती हो।

चन्द्रा०—तो तू ही क्यों नहीं गाती। दूसरों पर हुकुम चलाने को तो बड़ी मुस्तैद होती है।

जोगिन—हाँ हाँ, सखी तू ही न पहिले गा। ले मैं सरंगी से सुर की आस देती जाती हूँ।

ललिता—यह देखो। जो बोले सो घी को जाय। मुझे क्या, मैं अभी गाती हूँ।

(राग बिहाग—गाती है)

अलख गति जुगल पिया-प्यारी की।
को लखि सकै लखत नहिं आवै तेरी गिरधारी की॥

बलि बलि बिछुरनि मिलनि हँसनि रुठनि नित ही यारी की।
त्रिभुवन की सब रति गति मति छबि या पर बलिहारी की॥

चन्द्रा०—(आप ही आप) हाय! यहाँ आज न-जाने क्या हो रहा है, मै कुछ सपना तो नहीं देखती। मुझे तो आज कुछ सामान ही दूसरे दिखाई पड़ते हैं। मेरे तो कुछ समझ ही नही पड़ता कि मैं क्या देख सुन रही हूँ। क्या मैंने कुछ नशा तो नहीं पिया है! अरे यह जोगिन कही जादूगर तो नही है। (घबड़ानी सी होकर इधर उधर देखती है)

(इसकी दशा देखकर ललिता सकपकाती और जोगिन हँसती है)

ललिता—क्यों, आप हँसती क्यों है?

जोगिन—नही, योंही मै इसको गीत सुनाया चाहती हूँ पर जो यह फिर गाने का करार करे।

चन्द्रा०—(घबड़ाकर) हाँ, मै अवश्य गाऊँगी, आप गाइए।

(फिर ध्यानावस्थित सी हो जाती है)

(जोगिन सारंगी बजाकर गाती है)

(संकरा)

तू केहि चितवति चकित मृगी सी?
केहि ढूँढ़त तेरो कहा खोयो क्यौं अकुलाति लखाति ठगी सी॥
तन सुधि करु उघरत री आँचर कौन ख्याल तू रहति खगी सी।
उतरु न देत जकी सी बैठी मद पीयो कै रैन जगी सी॥
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिस सपने पिय देखति उमगी सी।
भूलि बैखरी मृगछौनी ज्यौं निज दल तजि कहुँ दूर भगी सी॥
करति न लाज हाट घर बर की कुलमरजादा जाति जगी सी।
'हरीचंद' ऐसिहि उरझी तौ क्यौं नहिं डोलत संग लगी सी॥
तू केहि चितवति चकित मृगीसी?

चन्द्रा०—(उन्माद से) डोलूँगी-डोलूँगी संग लगी (स्मरण करके लजाकर आप ही आप) हाय-हाय! मुझे क्या हो गया है। मैंने सब लज्जा ऐसी धो बहाई कि आए गए भीतर बाहर वाले सबके सामने कुछ बक उठती हूँ। भला यह एक दिन के लिए आई बिचारी जोगिन क्या कहेगी! तो भी धीरज ने इस समय बड़ी लाज रखी नहीं तो मैं राम-राम, नहीं-नहीं, मैंने धीरे से कहा था किसी ने सुना न होगा। अहा! संगीत और साहित्य में भी कैसा गुन होता है कि मनुष्य तन्मय हो जाता है। उस पर जले पर नोन। हाय नाथ! हम अपने उन अनुभव सिद्ध अनुरागों

और बढ़े हुए मनोरथों को किस को सुनावें जो काव्य के एक-एक तुक और संगीत की एक-एक तान से लाख-लाखगुन बढ़ते हैं और तुम्हारे मधुर रूप और चरित्र के ध्यान से अपने आप ऐसे उज्ज्वल सरस और प्रेममय हो जाते है, मानो सब प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे है। पर हा ! अन्त मे करुण रस मे उनकी समाप्ति होती है क्योकि शरीर की सुधि आते ही एक साथ बेबसी का समुद्र उमड़ पड़ता है।

जोगिन—वाह अब यह क्या सोच रही हो ! गाओ ले, अब नही मानैंगी।

ललिता—हाँ सखी, अब अपना वचन सच कर।

चन्द्रा०—(अर्द्धोन्माद की भाँति) हाँ हाँ, मै गाती हूँ।

(कभी आँसू भरकर, कभी कई बेर, कभी ठहरकर, कभी भाव बताकर, कभी बेसुर-ताल ही, कभी ठीक-ठीक, कभी टूटी आवाज से पागल की भाँति गाती है)

मन की कासों पीर सुनाऊँ।
बकनो वृथा और पत खोनी सबै चवाई गाऊँ।
कठिन दरद कोऊ नहि हरिहै धरिहै उलटो नाऊँ।
यह तो जो जानै सोइ जानै क्यो करि प्रगट जनाऊँ॥
रोम-रोम प्रति नैन श्रवन मन केहि धुनि रूप लखाऊँ।
बिना सुजान-शिरोमनि री केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ॥
मरमिन सखिन बियोग-दुखिन क्यों कहि निज दसा रोआऊँ।
'हरीचंद' पिय मिले तो पग परि गहि पटुका समझाऊँ॥

(गाते-गाते बेसुध होकर गिरा चाहती है कि एक बिजली सी चमकती है और जोगिन श्रीकृष्ण बनकर उठाकर गले लगाती है और नेपथ्य में बाजे बजते हैं)

ललिता—(बड़े आनंद से) सखी बधाई है, लाखन बधाई है। ले होस में आ जा। देख तो कौन तुझे गोद लिए हैं !

चन्द्रा०—(उन्माद की भाँति भगवान् के गले में लपटकर)

पिय तोहि राखौंगी भुजन मैं बाँधि।
जान न दैहौं तोहि पियारे धरौंगी हिए सों नाँधि॥
बाहर गर लगाइ राखौंगी अंतर करौंगी समाधि।
'हरीचंद' छूटन नहिं पैहौ लाल चतुराई साधि॥
पिय तोहि कैसे हिये राखौं छिपाय ?
सुन्दर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय॥

नैनन में पुतरी करि राखौं पलकन ओट दुराय।
हियरे में मनहूँ के अंतर कैसे लेउँ लुकाय॥
मेरो भाग रूप पिय तुमरो छीनत सौतैं हाय।
'हरीचंद' जीवनधन मेरे छिपत न क्यौं इत धाय॥
पिय तुम और कहूँ जिन जाहू।
लेन देहु किन मो रंकिन कों रूप-सुधा-रस-लाहु॥
जो-जो कहौ करौं सोइ सोई धरि जिय अमित उछाहु।
राखौं हिये लगाइ पियारे किन मन माहिं समाहु॥
अनुदिन सुन्दर बदन-सुधानिधि नैन चकोर दिखाहु।
'हरीचंद' पलकन की ओटैं छिनहु न नाथ दुराहु॥
पिय तोहि कैसे बस करि राखौं।
तुव दृग मैं दृग तुव हिय मैं निज हियरो केहि बिधि नाखौं॥
कहा करौं का जतन बिचारौं बिनती केहि बिधि भाखौं।
'हरीचंद' प्यासी जनमन की अधरसुधा किमि चाखौं॥

भगवान्—तौ प्यारी मैं तोहि छोड़िकै कहाँ जाउँगो, तू तौ मेरी स्वरूप ही है। यह सब प्रेम की शिक्षा करिबे कों तेरी लीला है।

ललिता—अहा! इस समय जो मुझे आनंद हुआ है उसका अनुभव और कौन कर सकता है। जो आनंद चन्द्रावली को हुआ है वही अनुभव मुझे भी होता है। सच है, जुगल के अनुग्रह बिना इस अकथ आनंद का अनुभव और किसको है?

चन्द्रा०—पर नाथ, ऐसे निठुर क्यों हौ? अपनों को तुम कैसे दुखी देख सकते हो? हा! लाखों बातें सोची थीं कि जब कभी पाऊँगी तो यह कहूँगी, यह पूछूँगी, पर आज सामने कुछ नहीं पूछा जाता!

भग०—प्यारी! मैं निठुर नहीं हूँ। मै तो अपने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूँ। परतु मोहि निह्चै है कै हमारे प्रेमिन को हम सों हूँ हमारो बिरह प्यारो है। ताही सों मैं हूँ बचाय जाऊँ हूँ। या निठुरता मैं जे प्रेमी हैं विन को तो प्रेम और बढ़ै और जे कच्चे हैं विनकी बात खुल जाय। सो प्यारी यह बात हू दूसरेन की है। तुमारो का, तुम और हम तो एक ही हैं। न तुम हम सौ जुदी हो न प्यारीजू सों। हमने तो पहिले ही कही कि यह सब लीला है। (हाथ जोड़कर) प्यारी, छिमा करियौ, हम तौ तुम्हारे जनम-जनम के रिनियाँ है। तुमसे हम कभू उरिन होइवेई के नहीं। (आँखों मे आँसू भर आते हैं)।

चन्द्रा०—(घबड़ाकर दोनों हाथ छुड़ाकर आँसू भर के) बस बस नाथ, बहुत भई, इतनी न सही जायगी। आपकी आँखों में आँसू देखकर मुझसे धीरज न धरा जायगा। (गले लगा लेती है)।

(विशाखा आती है)

विशाखा—सखी! बधाई है। स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सों कही दै चन्द्रावली की कुंज मै सुखेन पधारौ।

चन्द्रा०—(बड़े आनन्द से घबड़ाकर ललिता-विशाखा से) सखियो, मैं तो तुम्हारे दिए पीतम पाये हैं। (हाथ जोड़कर) तुमारो गुन जनम-जनम गाऊँगी।

विशाखा—सखी, पीतम तेरो तू पीतम की, हम तौ तेरी टहलनी है। यह सब तौ तुम सबन की लीला है। यामैं कौन बोलै और बोलै हू कहा जौ कछू समझै तौ बोलै—या प्रेम की तौ अकथ कहानी है। तेरे प्रेम को परिलेख तो प्रेम की टकसार होयगो और उत्तम प्रेमिन को छोड़ि और काहू की समझ ही मै न आवैगो। तू धन्य, तेरो प्रेम धन्य, या प्रेम के समझिवेवारे धन्य और तेरे प्रेम को चरित्र जो पढ़ै सो धन्य। तो मै और स्वामिनी मै भेद नही है, ताहू मै तू रस की पोषक ठैरी। बस, अब हमारी दोउन की यही बिनती है कै तुम दोउ गलबाही दैकै विराजौ और हम युगल जोड़ी को दर्शन करि आज नेत्र सफल करैं।

(गलबाहीं देकर जुगल स्वरूप बैठते हैं)

दोनों—नीके निरखि निहारि नैन भरि नैनन को फल आजु लहौ री।
जुगुल रूप छबि अमित माधुरी रूप-सुधा-रस-सिन्धु बहौरी॥
इनहीं सौं अभिलाख लाख करि इक इनही कों नितहि चहौरी।
जो नर-तनहि सफल करि चाहौ इनही के पद-कज गहौ री॥
करम-ज्ञान-संसार-जाल तजि बरु बदनामी कोटि सहौ री।
इनही के रस-मत्त मगन नित इनही के ह्वै जगत रहौ री॥
इनके बल जग-जाल कोटि अघ तृन सम प्रेम प्रभाव दहौ री।
इनहीं को सरबस करि जानौ यहै मनोरथ जिय उमहौ री॥
राधा-चन्द्रावली-कृष्ण-ब्रज-जमुना-गिरिवर मुखहिं कहौ री।
जनम-जनम यह कठिन प्रेमव्रत 'हरीचंद' इकरस निबहौ री॥

भग०—प्यारी! और जो इच्छा होय सो कहौ। काहे सों कै जो तुम्हें प्यारो है सोई हमें हूँ प्यारो है।

चन्द्रा०—नाथ! और कोई इच्छा नहीं, हमारी तो सब इच्छा की अवधि आपके दर्शन ही ताई है तथापि भरत को यह वाक्य सफल होय—

परमारथ स्वारथ दोउ कहँ सँग मेलि न सानै ।
जे आचारज होइँ धरम निज तेहू पहिचानै ॥
वृन्दाविपिन विहार सदा सुख सों थिर होई ।
जन वल्लभी कहाइ भक्ति बिनु होई न कोई ॥
जगजाल छाँड़ि अधिकार लहि कृष्णचरित सबही कहै ।
यह रतन-दीप हरि-प्रेम को सदा प्रकाशित जग रहै ॥

(फूल की वृष्टि होती है, बाजे बजते हैं, और जवनिका गिरती है)

॥ इति परमफलचतुर्थ अंक ॥

टिप्पणी

पहिला अंक

चन्द्रावली—नाटिका की नायिका जिसके नाम पर ग्रन्थ का नामकरण हुआ है।

रंगशाला—नाटक खेलने का स्थान।

भरित नेह...मन मोर—यह मंगलाचरण या नांदी है और प्रस्तुत नाटिका के उपयुक्त हैं। दे० भूमिका। मंगलाचरण तीन प्रकार का माना जाता है—(१) वस्तुनिर्देशात्मक, (२) नमस्कारात्मक और (३) आशीर्वादात्मक। जहाँ 'जय' या 'जयति' शब्द का प्रयोग होता है आशीर्वादात्मक मंगलाचरण समझना चाहिए। कहा भी है—'ब्राह्मण आशीर्वाद पाठ करता हुआ आया'। यह दोहा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को बहुत प्रिय था। 'श्रीचन्द्रावली' के अतिरिक्त वह 'कर्पूर मंजरी' (१८७५), 'मुद्राराक्षस' (१८७८), और 'प्रेम जोगिनी' (१८७५) नामक नाट्य-कृतियो में, और 'गीतगोविन्द' (१८७८), 'होली' (१८७९) और 'प्रेम-फुलवारी' (१८८३) नामक काव्य-ग्रन्थों में नादी या मंगल पाठ के रूप मे मिलता है।

नेह नव नीर—प्रेम रूपी नया जल अर्थात् जो प्रेम नित नवीन बना रहता है।

सुरस—अच्छा रस।

अथोर—अ-थोर, थोड़े का उलटा, अर्थात् बहुत या अधिक।

अलौकिक—अ-लौकिक, लोकोत्तर, दिव्य।

घन—बादल, घनश्याम कृष्ण। प्रेम की दृष्टि से यहाँ श्रीकृष्ण अर्थ होगा।

मन मोर—मेरा मन, मन रूपी मोर।

नेति-नेति—जिसका अन्त न हो अर्थात् जिसका आदि-अंत ज्ञात नही है।

तत्-शब्द-प्रतिपाद्य—तत्—ब्रह्म, परमात्मा; प्रतिपाद्य—जिसके लिए प्रमाण की आवश्यकता हो। जिसके लिए तत् शब्द का प्रमाण देने की आवश्यकता हो।

सर्व—(सर्व्व) पूर्ण।

चन्द्रावली-चकोर—चन्द्रावली रूपी चकोर, अर्थात् जिनके लिए चन्द्रावली चकोर है।

सूत्रधार—दे० भूमिका (संक्षिप्त नाट्य-शास्त्र):

मारिष—दे० भूमिका (संक्षिप्त नाट्य-शास्त्र)। नाटकों में महात्माओं का संबोधन शब्द।

पारिपार्श्वक—दे० भूमिका (संक्षिप्त नाट्य-शास्त्र)।

आरंभशूर—जो केवल शुरू करना जानता हो और दृढ़तापूर्वक कार्य पूर्ण करनेवाला न हो।

रोम—रोयाँ, छिद्र।

कर्ण—कान।

महाराज पृथु—सृष्टि के प्रारंभ में राजा वेणु का पुत्र जो पृथ्वी-मंडल का राजा, धर्मात्मा और दिव्य तप और तेजवाला था। उसीके समय में पृथ्वी पर नगर, ग्राम आदि बसे। पृथु की कन्या होने से धरिणी पृथ्वी कहलाई। 'पृथु' शब्द का प्रयोग यहाँ धार्मिक वृत्ति और विस्तार दोनों के अर्थ में हुआ है। जितना अधिक शारीरिक विस्तार होगा उतने ही रोम रूपी कर्ण अधिक होंगे और उतना ही अधिक पारिपार्श्वक सुन सकेगा।

जग-जन-रंजन—संसार के मनुष्यों को प्रसन्न करनेवाला।

आशु-कवि—शीघ्र ही कविता कर लेनेवाला कवि।

करि गुलाब···नाँव—गुलाबजल से मुख धोकर जिसका नाम लेना चाहिए, अर्थात् उनका नाम पवित्र समझकर लेना चाहिए।

अविचल—अचल, अटल, जो विचलित न हो।

नेपथ्य—दे० भूमिका (संक्षिप्त नाट्य-शास्त्र)।

त्यागिन कों अत्याग—त्यागियों के लिए न त्यागने योग्य, अर्थात् जिसे त्यागी भी नहीं छोड़ते।

नष्ट-जीव—जिसकी जीवात्मा नष्ट हो गई हो, पातकी।

रंगरंजक—(रंगरंज)—रँगनेवाला।

सलोना—लावण्य से भरा हुआ।

टोना—जादू।

मुख चंद झलमले—मुख चंद—मुख रूपी चन्द्रमा, अर्थात् जिसका मुख चन्द्रमा के समान ज्योतित है।

स्वाँग—भेस, नकल।

विष्कम्भक

शुकदेव—महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के पुत्र थे। वे प्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व-ज्ञानी थे और जीवन भर तपस्या करते रहे। उन्होंने ही राजा परीक्षित को भागवत सुनाया था।

विष्कम्भक—दे० भूमिका (संक्षिप्त नाट्य-शास्त्र)।

अहा ! संसार के जीवों...लोगों का यश क्यों गाता—शुकदेवजी के कहने का भाव यह है कि जीव अविद्या में लिप्त होकर या तो मर्यादा मार्ग का अनुसरण करते हैं, या अपने ज्ञान का अभिमान करते हैं, या विविध मतों के स्थापित करने में आपस में झगड़ते है, या लौकिक आसक्ति मे पड़े रहते है, या फिर संसार से विरक्ति धारण कर परलोक-साधन करते हैं, किन्तु पुष्टिमार्गीय भक्ति के लिए यह सब व्यर्थ है। उसे जप, तप वैराग्य, नियम आदि छोड़कर, प्रेम भाव धारण कर केवल श्रीकृष्ण की शरण में जाना चाहिए जिससे लोक, देश, काल, तीर्थ आदि के दोष से वह मुक्त हो जाता है। प्रभु में जब आसक्ति होती है तो वह मतमतान्तरों के झगड़ों से मुक्त हो जाता है, क्योंकि स्वयं श्रीकृष्ण सब शास्त्रों के सार हैं। श्रीकृष्ण शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन से प्रसन्न नही होते, वे भक्त के बुद्धिशील होने से भी प्रसन्न नही होते। वे तो केवल प्रेम के भूखे हैं परंतु जिसे भगवान् कृपाकर अपना समझते हैं, उसीको परमात्मा की प्राप्ति होती है। गोपियों मे श्रीकृष्ण के परमब्रह्मत्व-ज्ञान के साथ-साथ पूर्ण प्रेम का मणि-कांचन योग था।

नेम—नियम। 'नेम धर्म' से तात्पर्य विधिविहित मर्यादा मार्ग से है।

मत-मतान्तर—विभिन्न धर्म।

परमार्थ—मोक्ष-साधन।

परम प्रेम अमृत-मय एकांत भक्ति—परम प्रेम (प्रभु-प्रेम) रूपी अमृत से पूर्ण मन की अनन्य भक्ति (रागानुगा भक्ति)। भगवान् में एकात अनुरक्ति ही आनन्द-प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अन्धकार—ज्ञान-विज्ञानादिक (शास्त्र ज्ञान, ब्रह्म-आत्मा की एकता आदि माया या अविद्या के बोध) से सम्बन्धित हठ रूपी अन्धकार। पुष्टिमार्ग के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन से प्रसन्न नही होते।

निगड़—बन्धन, बेड़ी। लोक और वेद के बन्धन।

अधिकारी—पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण की सेवा का अधिकार ही परम पुरुषार्थ है। किन्तु यह अधिकार वही पाते हैं जिनपर भगवान् का अनुग्रह होता है।

मदिरा को शिवजी ने पान किया है—प्रेम-रूपी मदिरा का पान। शिव को विष्णु भक्त के रूप में सदैव चित्रित किया गया है और वे एक परम भक्त माने

जाते हैं। पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म कृष्ण के ही अंश हैं और उन्हीं के अधीन हैं।

ब्रज की गोपियाँ—भगवान् के अनुग्रह से गोपीजन द्वारा ही पुष्टिमार्ग प्रवर्तित हुआ माना जाता है। सांकेतिक अर्थ में गोपियाँ वेद की ऋचायें हैं।

अकथनीय और अकरणीय—कथन से परे, वर्णनातीत और जिसका अनुकरण न किया जा सके।

माहात्म्य-ज्ञान—इस बात का ज्ञान कि श्रीकृष्ण ही परसच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप परमात्मा और सर्वसामर्थ्यवान् हैं, वे ही सेव्य और आश्रय लेने योग्य हैं। जीव के रक्षक श्रीकृष्ण ही हैं।

पूर्ण प्रीति—एकान्त अनुरक्ति। श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग रहते हुए पूर्ण आत्म-समर्पण।

निवृत्त—मुक्त, विरक्त।

नारद—ब्रह्मा के मानस-पुत्र। सदा तर्पण करते रहने से नारद कहलाए। उनके विषय मे हरिवंश, भागवत, महाभारत आदि मे बहुत कुछ लिखा हुआ है। दुष्टों का नाश कराने में वे सदा दत्तचित्त रहे। नारद-सूत्र या नारद-पंचरात्र उनकी रचना कही जाती है। वे हरिभक्त प्रसिद्ध हैं।

पिंग—पीला।

जोहत—देखने से

मृगपति—सिंह।

सात सुर—सात स्वर (संगीत)—षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद (सा, रे, ग, म, प, ध, नि)।

जग—दो।

अघ—पाप।

लय अरु सुर—संगीत में गाना गाने, बजाने, पैर एक साथ उठाने आदि को दिखाने के लिए काल और क्रिया साम्य। द्रुत, मध्य और विलंबित लय।

सुर—स्वर।

आरोहन अवरोहन—आरोहन—चढ़ाव; अवरोहन—उतार। सगीत में स्वरों का चढ़ाव और उतार।

कोमल अरु तीव्र—कोमल—संगीत में स्वर का एक भेद; तीव्र—संगीत में कुछ ऊँचा और अपने स्थान से बढ़ा हुआ स्वर। एक स्वर शुद्ध भी होता है। राग विशेष के अनुसार स्वर कोमल या तीव्र या शुद्ध होते हैं।

गुन गन—गुणों का समूह।

अगम—अथाह, बहुत गहरे।

अघट—जो घटे न।

तीर्थ-मय कृष्णचरित—सब तीर्थों के समान कृष्ण-चरित्र।

काँवरि—बँहगी।

भूगोल खगोल—पृथ्वी और आकाश।

कर-अमलक—हाथ का आँवला, अर्थात् वह चीज या बात जिसका हरएक पहलू साफ-साफ जाहिर हो गया हो।

तुला—तराजू।

श्रीराग—भारतीय आचार्यों ने छः राग माने हैं, यद्यपि उनके नामों के संबंध में मतभेद है। सामान्यतः भैरव, कौशिक, हिन्दोल, दीपक, श्री, मेघ, ये छः राग माने जाते हैं। श्रीराग मधुर राग माना जाता है।

राग-सिंधु—रागो का समुद्र (संगीत), अथवा अनुराग (प्रेम) का समुद्र।

तूंबी, तूंबा—कद्दू को खोखला करके बनाया गया पात्र जो वीणा मे लगा रहता है। सस्कृत में वीणा की तूँबी को दो नाम दिए गए है—ककुभ और प्रसेवक।

ब्रह्म-जीव—ब्रह्म और जीव के पारस्परिक संबंध के विषय मे विवाद।

निरगुन-सगुन—निर्गुण—जो ब्रह्म सत्व, रज और तम तीनों गुणों से परे हो। सगुन-साकार ब्रह्म, सत्व, रज और तम से युक्त। इन दोनों के संबंध में विवाद।

द्वैताद्वैत—द्वैत और अद्वैत। द्वैत—वह दार्शनिक सिद्धान्त जिसमें जीव और ईश्वर को दो भिन्न पदार्थ मानकर विचार किया जाता है। मध्वाचार्य (१२५७ में जन्म) द्वैत संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार कारण से कार्य की उत्पत्ति होने पर दोनों पृथक्-पृथक् हैं, उसी प्रकार ईश्वर और जीव। अद्वैत—वह सिद्धान्त जिसमें चैतन्य या ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी वस्तु या तत्त्व की वास्तव सत्ता नही मानी जाती और आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं स्वीकार किया जाता। शंकराचार्य (८वीं शताब्दी) ने श्रुतियों के आधार पर अद्वैत का प्रचार किया।

द्वैताद्वैत को द्वैत और अद्वैत अलग-अलग वादों के रूप में लिया जाना चाहिए। वैसे द्वैताद्वैत नामक एक मत के प्रवर्तक निंबार्क स्वामी (१२वीं शताब्दी मे) थे जिन्होंने बताया कि ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी जीव उसमें अपना अस्तित्व खो देता है।

नित्य अनित्य—नित्य—त्रिकालव्यापी, अविनाशी । अनित्य—क्षणभंगुर, नाशवान् । क्रमशः ब्रह्म और जीव से सम्बन्धित ।

श्री वृंदावन—भगवान् श्रीकृष्ण का क्रीड़ा-क्षेत्र वृन्दावन ।

प्रेमानन्दमयी श्री ब्रजवल्लभी लोग—प्रेमानन्द से पूर्ण श्रीकृष्ण के भक्त । ब्रज में ही भगवान् का स्वरूपतः और कार्यतः प्राकट्य हुआ था ।

विरहावस्था—पुष्टिमार्गीय भक्ति मे प्रभु का स्नेह परिपूर्ण प्राप्त होना फल है । वह स्नेह दो प्रकार का है—सयोग और विरह । प्रभु पर स्नेह होने के अनन्तर या सेवा से अलग होने पर विरह का अनुभव होता है । संयोग और वियोग दोनों में भक्त प्रभु का सामीप्य प्राप्त करता है ।

श्रीगोपीजन—प्रेमानन्द की अवस्था मे भगवान् मे तन्मय होनेवाली गोपियाँ । वेणुरव सुनकर उन्होंने यह आनन्द की अवस्था प्राप्त की थी ।

सरि—समान ।

हरिरस—रस—प्रेमरस । श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम ।

जन तृन-सम'''हरिरस माहीं—श्रीकृष्ण के प्रेम मे लोक-लाज, कुल-मर्यादा का ध्यान नहीं रहता ।

छाँहीं—छाँह ।

लता पता—लता और पत्ते, पेड़-पत्ते ।

जामैं—जिसमे ।

सिर—ऊपर का भाग (लता और पत्तों की जड़) ।

भींजै—भीगे ।

रूप-सुधा—रूप की सुधा । सुधा—अमृत ।

श्री महादेवजी की प्रीति...आश्चर्य नहीं—जो हरिभक्त महादेवजी की प्रीति के पात्र हों, उन्हें हरिरस में डूबना ही चाहिए । पुराणों में शिवजी और नारद के बीच भक्ति-प्रसंग का प्रायः उल्लेख मिलता है ।

श्रीमती—प्रधान महिषी राधा । साहित्यिक लक्षण के अनुसार ज्येष्ठा । कृष्ण के साथ-साथ राधा की महानता सम्प्रदाय गत विशेषता है ।

लीलार्थ दो हो रही हैं—कृष्ण ब्रह्म हैं । राधा उनकी शक्ति और उन्हींसे आविर्भूत हैं । अतएव एक होते हुए भी लीलावश उन्होंने अलग अलग रूप धारण किया है ।

डगर-डगर—मार्ग-मार्ग ।

निनेष—रोकना ।

जल में दूध की भाँति—अभिन्न ।

वेणु, वंशी—पुष्टिमार्ग में वंशी का बहुत माहात्मय है। वंशीरव का आध्यात्मिक अर्थ है 'ब्रह्मनाद'।

पहिला अंक

जवनिका—दे० भूमिका।

गिरिराज—गोवर्द्धन पर्वत।

मुख से कहती है, चित्त से नहीं—बाहर कुछ और, भीतर कुछ और। दुराव।

उड़ती है—चित्त में बात छिपाकर भुलावा देती है।

चली न अपनी चाल से—अपने आचरण के अनुसार व्यवहार करना, कपटाचरण।

रोग का वैद्य—प्रेम-रूपी रोग को दूर करनेवाला। ललिता का कहना है कि 'मैं ही तेरे प्रेम को सफल बनाने में सहायक हो सकती हूँ'।

ईंट-पत्थर की नहीं हूँ—हृदयहीन नही हूँ।

उघरि परत—रहस्य प्रकट हो जाता है।

खगे—धँसना, छिपना।

दुराव—छिपाव।

दुरत—छिपते।

प्रेम-पगे—प्रेम-रस में पगे हुए।

उघरे से डोलत—घूँघट से बाहर प्रकट हो जाते हैं।

मोहनरंग रँगे—कृष्ण के रंग मे रँगे हुए।

पहेली बूझना—छिपी हुई बात का पता लगाना।

बाँयाँ चरण निकाल तो मैं भी पूजा करूँ—स्त्री का वामाँग ही पूज्य होता है। चरण-पूजा, आदर-सत्कार या महत्ता स्वीकार करने का प्रतीक है। यहाँ ललिता चन्द्रावली को छिपाने की कला की श्रेष्ठता पर कटाक्ष करती है।

सकपकाना—आश्चर्य-चकित होना, लज्जित होना, स्तब्ध होना।

रूसी जाती है—क्रुद्ध हुई जाती है।

सरिहै—पूर्ण होगा।

बेदन—वेदना।

बापुरौ—बेचारा।

मुँह चिढ़ाना—किसी की आकृति, हाव-भाव या कथन को बहुत बिगाड़ कर नकल करना।

निठुर—निष्ठुर।

लगौंहीं चितवनि—लगी हुई दृष्टि किसी पर आसक्त होना।

थिरत—स्थिर होती हैं।

ललचौंही बानि—लालच से भरा स्वभाव, बात ।

निगोड़ी—दुष्टा, अभागी ।

जुरे—मिले ।

मोहन के रस...तनिक दुरे—श्रीकृष्ण के प्रेम में विचलित रहते हैं और तनिक भी न देख पाने से तड़पते हैं ।

निगुरे—गुण-रहित, अशिक्षित ।

खीझ्यौ—क्रुद्ध हुआ, झुँझलाया ।

बरज्यौ—रोका ।

बुते—बुझे हुए ।

विष के बुते छुरे—अर्थात् मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाने वाले ।

उलझौंहैं—अटकने वाले, फँसने वाले, क्षुब्ध होनेवाले ।

गन—गयन्द हाथी !

लैन के दैन—सकटमय स्थिति ।

वह छबि—इससे प्रकट है कि चन्द्रावली श्रीकृष्ण का सौन्दर्य देख चुकी है ।

बतरानि—बातें करने का ढग ।

मुरति—मुड़ने का ढंग ।

कोर—किनारा, ओर ।

धीरी—मन्द ।

बोरी—पान ।

पीत पिछौरी काछे—पिछौरी—ओढ़ने की चादर । काछे—पीताम्बर बाँधे हुए, पहने हुए ।

बिरहागम रैन सँजोवती हैं—विरह के आगमन से रात को सजाती हैं अर्थात् रात को विरह-पीड़ा से पीड़ित होती हैं ।

तुझे अपनी आरसी...आज खुला—आँखों में बसे हुए श्रीकृष्ण को आरसी या दर्पण के माध्यम द्वारा देखती रहती थी ।

वियोग ओ सँयोग...लखि न परत है—वियोग तो है ही, आरसी या दर्पण के माध्यम द्वारा आँखों मे बसे प्रियतम को देखना ही संयोग है ।

परम पुनीत प्रेमपथ—श्रीकृष्ण के प्रति परम पवित्र प्रेम-मार्ग का अनुसरण ।

प्रेमियों की मंडली की शोभा है—प्रेमियों में शिरोमणि हो ।

मैं जब आरसी में...मुझे न चाहे, हा !—ये पंक्तियाँ चन्द्रावली के चरित्र पर प्रकाश डालती हैं । यह अपने प्रियतम को किसी प्रकार भी दुःखी नहीं देखना चाहती है । स्वयं ही सब कष्ट सहन करना चाहती है ।

खीझ रही है—क्रुद्ध हो रही है, झुँझला रही है।

हाहा ठीठी—हँसी-मजाक।

भोर—सुबह।

दूसरा अंक

वाह प्यारे! वाह!...जिसे तुम आप देते हो—चन्द्रावली के इस कथन से 'कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः' का समर्थन होता है। पुष्टिमार्ग में भगवान् कृष्ण और उनकी कृपा ही मुख्य हैं। भगवान् की कृपा ही भगवान् से मिलाने का एकमात्र साधन है।

विलक्षण—अलौकिक।

अखंड—तूर्ण।

ज्ञान वैराग्यादिकों को तुच्छ करके परम शांति देनेवाला—शास्त्र-ज्ञान-गृह-त्याग, संसार-त्याग आदि का पुष्टिमार्ग में उतना महत्व नहीं है, जितना प्रेम का। भगवान् जीव का समर्पण भाव देखते है, अनुराग देखते हैं, उसकी किसी प्रकार की शक्ति पर अनुरक्त नहीं होते।

अभिमान—ज्ञान, धर्म और लौकिक सत्ता का अभिमान।

कोई किसी स्त्री...चित्त लगाना—भौतिक प्रेम का रूप।

ईश्वर की बड़ी लम्बी-चौड़ी पूजा—मर्यादा मार्ग।

अमृत—प्रेम रूपी अमृत।

जिसे तुम आप देते हो—जिस पर आपका अनुग्रह या कृपा होती है।

रार—झगड़ा।

बकि कै—बकवास कर, कहकर, प्रकट कर।

परतीतहि छीजिए—प्रतीति—विश्वास, छीजना—क्षीण होना, घटना।

मरम की पीर—मरम—मर्म, प्राणियों के शरीर का वह स्थान जहाँ आघात पहुँचने से अधिक वेदना होती है, हृदय। पीर—पीड़ा।

जरनि—जलन।

बे-महरम—इसका पाठ 'बे-बहरम' की और बे-बरहम मिलता है। 'बे-बरहम' पाठ लेने पर अर्थ लगाया जा सकता है—निर्दयी। बा० ब्रजरत्नदास ने 'बे-महरम' पाठ दिया जो युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अर्थ है 'भेद न जानने वाला'।

लोय—लोग।

लोकलाज...होय सो होय—पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार ही यह कथन है।

मुरि—मुड़ कर।

छाम—क्षीण।

कलाम—प्रतिज्ञा।

हुती—थी।

सूधी—सीधी।

साधै—इच्छा।

अनखाना—क्रुद्ध होना, रिसाना।

सुभाय—स्वभाव, प्रकृति। 'अच्छा लगना' अर्थ भी हो सकता है—'भाना' से (इस प्रकार करके अर्थात् दया न लाकर क्या तुम अच्छे लगते हो)।

सात पैर—सतपदी—विवाह समय की सात फेरी।

कित कों ढरिगो—कहाँ चला गया।

साजत हौ—सजाते हो अर्थात् प्रदर्शित करते हो।

अनबोलिबे में नहिं छाजत हौ—अनबोलिबे में—न बोलने में। छाजना—शोभा देना।

दुरि—छिप कर।

बिरुदावली—यश, अर्थात् अपनी शरण में आए की रक्षा करते हो यह यश।

हात—हाथ। **कछू हात नहीं**—कुछ हाथ नहीं लगता, मतलब नहीं निकलता।

जलपान कै पूछनी जात नहीं—पानी पी कर जाति नहीं पूछनी चाहिए।

भाखौ—कहो।

औधि—अवधि।

देखि लीजौ...रहि जायँगी—दरशन की लालसा से आँखों का खुला रह जाना कहा गया है।

अमृत पीकर फिर छाछ कैसे पियेंगी—छाछ—मट्ठा। उत्तम वस्तु ग्रहण करने के बाद निकृष्ट वस्तु कौन ग्रहण करेगा अर्थात् तुम्हारे सामने अब कौन अच्छा लगेगा।

पेखिए का—पेखिए—देखिए। का—क्या।

संगम—संयोग, मिलन।

तुच्छन—तुच्छ सुखों को।

हरिचंद जू हीरन...लै परेखिए का—परेखना—जाँचना। हीरों का व्यवहार कर काँच को क्या जाँचे। 'अमृत पीकर फिर छाछ कैसे पियेंगी, वाला भाव है।

जिन आँखिन में...अब देखिए का—अर्थात् आपका सौन्दर्य देखने के बाद अब कुछ देखने को शेष नही रह जाता ।

राजा चन्द्रभानु—गोपो के राजा चन्द्रभानु ।

ह्याँई—यहॉ ही ।

बन के स्वामी—बन—कदली वन । कदली वन के स्वामी—श्रीकृष्ण ।

यासूँ—इससे ।

अपुने सों बाहर होय रही है—अपनी सीमा या मर्यादा से बाहर हो रही है अर्थात् होश हवास दुरुस्त नही हैं ।

अलख लड़ैती—अलख—जो दिखाई न पड़े, ईश्वर का एक विशेषण । **लड़ैती**—लाड़ली, अर्थात् ईश्वर की लाड़ली—एक प्रकार का लाड़भरा संबोधन ।

मेरा लुटेरा—मेरा सर्वस्व अपहरण करनेवाला ।

रूख—वृक्ष ।

कितै—किधर ।

कदंब—कदम, एक प्रसिद्ध वृक्ष ।

अंब-निब—आम और नीम ।

बकुल—मौलसिरी ।

तमाल—एक बहुत ऊँचा सुन्दर सदाबहार वृक्ष ।

बिरुध—पौधा ।

जकी-सी—स्तंभित सी, चकित सी ।

एक रूप आज श्यामा भई श्याम है—श्याम और श्यामा (यहॉ चन्द्रावली) आज एकरूप हो गए हैं—अभिन्नता ।

बदी थी—निश्चित हुआ था, या स्वीकार किया था ।

निबही—निभी, निर्वाह हुआ ।

अनत—अन्यत्र और कही ।

गरजना इधर और बरसना और कहीं—अर्थात् तड़पाना यहाँ और रस-वर्षा कही और करना ।

चातक—पपीहा ।

पानिप—पानी ।

प्यारे ! चाहे गरजो चाहे लरजो...तुम्हीं अवलंब हौ; हा !—इन पंक्तियों से पुष्टिमार्गीय भक्त की एकात भक्ति की ओर संकेत मिलता है । श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी मे वह अनुरक्त नही होता । पुष्टिमार्गीय भक्त निश्चिन्त रहता है, वह सन्तोषी होता है और इस बात में विश्वास रखता है कि स्वयं भगवान् ही उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण करेंगे ।

लरजना—काँपना, हिलना, दहलना।
श्याम घन—काले बादल, घनश्याम—कृष्ण।
पंडिताइन—ज्ञानी।
कुलकानि—कुल की मर्यादा।
पसारन दीजिए—फैलने दीजिए।
चार चवाइन—गुप्त चुगलखोर, छिपे तौर से बदनामी करनेवाले।
बिधना—बिधाता।
सिस्टाचार—शिष्टाचार।
अनमेख—अनिमेष, टकटकी के साथ।
पेख—देखकर।
छकिसों छयो—तृप्ति से पूर्ण हो गया है।
उडुगन—तारागण।
मान-कमल—मान रूपी कमल। चन्द्रमा के निकलते ही कमल मुरझा जाता है।
गोरज—गौ के खुरों से उड़ी हुई धूल।
पटल—आवरण, पर्दा।
ठयो—ठाना।
जात ही—जाते ही।
झूठन के सिरताज—झूठ बोलनेवालों में शिरोमणि।
मिथ्यावाद-जहाज—मिथ्यावाद के आश्रय अर्थात् झूठ बोलने वालों मे प्रधान, मिथ्यावाद को फैलानेवाले।
मति परसौ तन...अहो अनूठे—यह तथा ऐसे ही अन्य वाक्य चन्द्रावली की रीतिकालीन नायिका के रूप मे चित्रित करते हैं।
परसौ—स्पर्श करो।
एक मतो...क्यों बनाइए—सूर्य से एक मत क्यों कर लिया है, क्योंकि हे प्रियतम! तुम्हारे रूठने से वह भी रूठ जाता है अर्थात् उदित नही होता और रात्रि की अवधि बढ़ जाने से दुःख भी बढ़ जाता है।
गुदगुदाना...न आवै—उतना ही मजाक अच्छा जिससे किसी को पीड़ा न पहुँचे।
कनौड़ी—मोल ली हुई दासी, आश्रिता, कृतज्ञ।
सुख-भौन—सुख के भवन अर्थात् सुख-पूर्वक।
सबै थल गौन—सब स्थानों में गमन।

राधिकारौन—श्रीकृष्ण ।

भँवर—भौंरा ।

मोहन-व्रत-धारी—मोह का व्रत धारण करनेवाले अर्थात् प्रीति में अस्थिरता ।

मानस—मन, मानसरोवर अर्थात् श्रीकृष्ण ।

गोभा—अंकुर ।

बेदन—वेदना ।

हत्यारिन बरषा रितु—वर्षा ऋतु मे विरही जनों की पीड़ा ओर भी बढ़ जाती है ।

बिधिना—विधाता ।

उमाह—उत्साह, उमंग ।

इस ऋतु में...प्यारी कहने वाला कौन मिलेगा—यह कथन रीति-कालीन विरहिणी नायिका के कथन से साम्य रखता है ।

अंकावतार

अंकावतार—दे० भूमिका (संक्षिप्त नाट्य-शास्त्र) ।

बीथी—मार्ग, रास्ता ।

साँड़—षंड, बैल ।

तापैं—उस पर ।

निपूते—पुत्रहीन । एक प्रकार की गाली जिसका ब्रज-प्रदेश मे अब भी प्रयोग होता है ।

सुबल—गोप का नाम ।

तूमड़ी—तूंबी, एक प्रकार का बाजा ।

लहकाय दीनो—झोंके के साथ दौड़ा दिया ।

रपट्टा—झपट्टा, चपेट ।

कौन गति कराऊँ—कैसी तबियत ठीक कराऊॅ, दुर्दशा कराना, पिटवाना ।

प्रानन की हाँसी—ऐसी हॅसी जिससे प्राणों पर आ बने ।

हाट—बाजार ।

यारैं—प्रेमी ।

खुटका—चिंता, आशंका ।

लोक-वेद, अपना-बिराना—लोक, वेद, अपने और पराए सबंध तोड़ना ही पुष्टि-मार्गीय भक्त का चिन्ह है ।

धर्म से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता—यदि तुम हमें धर्मोपदेश दो तो तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार के धर्म का पालन किया

जाता है, वैसा ही फल होता है। ऐसा नहीं होता कि फल को देखकर धर्म का उपदेश दिया जाय। तुमने हमें जैसा प्रेम-धर्म दिया वैसा ही हमने आचरण किया। अब तुम हमारा आचरण देखकर मर्यादा धर्म का उपदेश दो, यह तो ठीक नही है।

मुँह ढको फिर भी बोलने बिना डूबे जाते हो—मुँह ढँककर न बोलने का उपक्रम करो फिर भी तुम्हारा बोलने के लिए चित्त व्याकुल रहता है। हम तो बोलना नही चाहते तब भी तुम बोले बिना नही रहते।

◡—चन्द्रावली के नाम का प्रतीक।

चक्र घहराय—मुसीबत आए।

कपोत व्रत—बिना आह किए अत्याचार सहना।

उस मुँह से...हाय निकले—जीभ खींच लेने से मुँह से 'हाय' नहीं निकल सकती। वास्तविक प्रेम वही है जिसमें कभी आह न निकले।

जाके पाँव...पराई—जिसे स्वयं कष्ट सहन नही करना पड़ा वह दूसरे के कष्ट को क्या समझे।

इस प्रीति में संसार की रीति से कुछ भी लाभ नहीं—विलक्षण अर्थात् अलौकिक मूक प्रेम मे लौकिक प्रेम की रीति काम नहीं आती अर्थात् वह लौकिक प्रेम से भिन्न होता है।

बूढ़ी फूस सी डोकरी—ऐसी बूढ़ी जिसके अंग बिल्कुल शिथिल हो गए हों, जिसका केवल अस्थि पंजर मात्र रह गया हो।

बात फोड़ि कै उलटी आग लगावै—भेद खोल कर काम बिगाड़े या चुगली खाय।

तीसरा अंक

सखी, देख बरसात...पतिव्रत पाल सकती है—यह तथा इसी प्रकार के कुछ आगे के श्रृंगारपूर्ण कथन रीतिकालीन नायिकाओं की याद दिलाते हैं। वास्तव मे चन्द्रावली के प्रेम-वर्णन और सखियों के वार्तालाप पर रीतिकालीन परम्परा का प्रभाव है।

कामदेव...भिजवाई है—वर्षा-काल में श्रृंगार भावना उद्दीप्त हो जाती है, इसीलिए ऐसा कथन किया गया है।

निशान—पताका।

करखा—युद्ध के समय उत्साहपूर्ण गान। विजय के लिए आ रही सेना का रूपक होने से 'करखा' का उल्लेख किया गया है।

निगोड़ा—नीच, दुष्ट । एक प्रकार की गाली ।

कुल की मरजाद...चढ़ाई है—वर्षाकालीन शृंगारपूर्ण वातावरण में वंशमर्यादा की रक्षा करना कठिन है ।

कामिनी—कामवती स्त्री ।

बावली—चौड़े मुँह का कुआँ जिसमें पानी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हो, छोटा गहरा तालाब ।

सकपके से—चकित से ।

बीर बहूटी—गहरे लाल रंग का एक छोटा रेंगनेवाला कीड़ा, इन्द्रवधू ।

पारी-पारी—बारी-बारी ।

करारा—नदी का वह ऊँचा किनारा जो जल के काटने से बने ।

पड़े-पड़े पछता रहे हैं—वर्षा के कारण मार्ग बन्द हो जाने से ।

वियोगियों को...आया है—वर्षा काल मे विरह और भी तीव्र हो जाता है ।

लाज के...प्रलय ही ठहरा—जब लज्जा ही नही रही तो जीवन मे फिर शेष ही क्या रहा, सब-कुछ नष्ट हो गया ।

गारद—गारत, नष्ट, बरबाद ।

बटे कृष्ण—वटवाले कृष्ण, उनकी मूर्ति या मन्दिर ।

भांडीर वट—भाडीर—ब्रज के एक बन का नाम, वहाँ का वट ।

झंखना—झींखना, दुखड़ा रोना ।

पुरवैया—जो पूर्व से चलती है ।

लरजना—काँपना, हिलना ।

एकतार—लगातार ।

झमाका—पानी बरसने का झमझम शब्द ।

ठठोलिन—हँसी दिल्लगी करने वाली, मसखरी ।

खुमारी—नशा ।

ऐसी कच्ची नहीं कि थोड़े में बहुत उबल पड़े—अर्थात् मैं इतनी कमजोर नहीं कि थोड़ी सी उत्तेजना पाते ही अपना संयम खो दूँ ।

बिसात—हैसियत ।

तूमड़ी तोड़-तोड़ कर—तूमड़ी—तूँबा जिसे प्रायः साधु अपने पास रखते हैं । वर्षाकालीन वातावरण में योगियों का संयम भी टूट जाता है और वे अपने तूँबे को फेंक-फाक कर भोगी बन जाते हैं ।

किसी सिद्ध से कान फुँकवाकर तुमड़ी तोड़वा ले—सिद्ध—जिसने योग या तप से सिद्धि-लाभ की हो । यहाँ साधारण साधु से मतलब है । कान

ऊनरी—कम, न्यून ।

दूनरी—दोहरा हो जाना ।

रुत—ऋतु ।

काहुवै—किसी को भी ।

आवती—आती ।

तऊ—तब भी ।

नायँ—नही ।

याही—इससे ।

याहू तो—यह भी तो ।

छोटी स्वामिनी—चन्द्रावली के लिए प्रयुक्त । नाटिका के लक्षणों के अनुसार भी वह कनिष्ठा नायिका है ।

खराबी तो हम लोगन की—अर्थात् चन्द्रावली की तरफदारी कर बिना श्रीमती जी की आज्ञा के उसके और श्रीकृष्ण के मिलन की चेष्टा करें तो श्रीमतीजी के बिगड़ जाने का भय है, किन्तु साथ ही चन्द्रावली को अकेली भी नहीं छोड़ सकतीं और न उसकी व्यथा देख पाती हैं ।

ये दोऊ फेर एक की एक होयँगी—अर्थात् अत मे चन्द्रावली का श्रीकृष्ण के साथ मिलन होने से—वह भी श्रीमतीजी की आज्ञा से—चन्द्रावली और श्रीमतीजी एक हो जाएँगी ।

लाठी मारवे...जुदा हो जायगो—पानी का अलग होना असंभव है । इससे चन्द्रावली और श्रीमतीजी के अभिन्नत्व पर जोर दिया गया है । विशाखा ने आगे भी कहा है—'तो मैं और स्वामिनी में भेद नहीं ।'

ढिमकी—अमुक ।

हम्बै बीर—हम्बै—हाँ । **बीर**—सखी, सहेली ।

स्वामिनी सों चुगली खाई—स्वामिनी से तात्पर्य श्रीमतीजी (राधा) ज्येष्ठा नायिका से है । चन्द्रावली के सम्बन्ध मे चुगली ।

रात छोटी है और स्वांग बहुत हैं—स्वाँग—बनावटी वेष जो दूसरे का रूप बनाने के लिए धारण किया जाय । समय कम काम बहुत । चन्द्रावली के हृदय में उमंगें बहुत हैं, जो जन्म-जन्मान्तर में पूर्ण नहीं हो सकती तो इस एक क्षणभगुर जीवन की तो बात ही क्या है । अर्थात् चन्द्रावली के हृदय की सभी उमंगें इस क्षणभंगुर जीवन में पूर्ण नहीं हो सकतीं ।

जी—हृदय ।

अपने-पराए...बेकाम हो गई—अर्थात् वह कुल-मर्यादा और लोक-लाज सभी

छोड़ चुकी है। भौतिक दृष्टि से अब उसका कोई नहीं है। उसके अब श्रीकृष्ण ही सहारे हैं।

सबको छोड़कर...यह गति की—लोक और परिवार छोड़कर श्रीकृष्ण की शरण में आई, किन्तु उन्होंने भी उसकी तक कोई सुधि नहीं ली। विरह के कारण दीनहीन दशा।

दीया लेकर मुझको खोजोगे—चारो ओर हैरान होकर ढूँढ़ोगे।

स्नेह लगाकर...सुजान कहलाते हो—सुजान—सज्जन। धोखा देनेवाले को सुजान कहलाने का अधिकार नही है।

बकरा जान से गया, पर खाने वाले को स्वाद न मिला—किसी के लिए अपने प्राण दे और वह उसका एहसान तक न माने।

हौस—हवस, लालसा, कामना।

प्रकट होकर संसार...शंकाद्वार खुला रखते हो—अर्थात् 'चार चवाइन' ने जो चारों ओर शोर मचा रखा है, मुझे कलंकित कर रखा है, मेरे चरित्र पर सन्देह कर रखा है, उसे क्यों नही मुझसे मिलकर, मुझे ग्रहण कर दूर कर देते।

अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ—अर्थात् मेरे तो केवल तुम्हीं आश्रय हो, संसार के आश्रय में मुझे मत भेजो। मैं केवल तुम्हारी ही कृपा की भूखी हूँ, सासारिक लोगों की कृपा की नही।

मझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो—मझधार—न तो मैं संसार ही की रही, न तुम्हीं ने मुझे ग्रहण किया। **उतराई**—महसूल, अर्थात् अधिक से अधिक वेदना और पीड़ा।

जन-कुटुंब से छुड़ाकर...यह कौन बात है—छितर-बितर—दूर दूर करना, विरल करना। एक ओर तो मै अपने-पराए से अलग हुई, दूसरी ओर तुम भी ग्रहण नहीं करते। इससे मेरा जीवन व्यर्थ हो गया है।

सब की आँखों में हलकी हो गई—निगाहों में गिर गई, अपमानित हुई।

'भामिनी तें भौंड़ी करी...कुल तें—अर्थात् सब प्रकार से तुमने मुझे अपमानित किया, मुझे नीचे गिराया, मेरा नाश किया।

भामिनी—स्त्री।

भौंड़ी—भद्दी, मिट्टी।

मानिनी—मान करनेवाली।

मौड़ी—लड़की, अर्थात् सरल स्वभाववाली, मान न कर सकनेवाली।

कौड़ी करी हीरा तें—हीरा मूल्यवान् वस्तु है, कौड़ी का कोई मूल्य नहीं। इसलिए अर्थ हुआ मूल्य का गिरना, अपमानित होना।

कनौड़ी करी कुल तें—कुल से भी तुच्छ किया, अथवा कलंकित या अपमानित किया।

गाली दूँगी—दुर्वचन कहूँगी, कलंक-सूचक आरोप लगाऊँगी। ये गालियाँ व्याज रूप मे है। वास्तव मे चन्द्रावली ने दुर्वचनों के रूप मे श्रीकृष्ण के परम-ब्रह्मत्व का वर्णन किया है।

मर्म्म वाक्य—वेदना पहुँचानेवाले वाक्य, रहस्य-वाक्य।

निर्दय, निर्घृण...अपनी ओर देखो—इन सब वाक्यों में चन्द्रावली ने ऐसे श्रीकृष्ण का वर्णन किया है जो प्रपंचपूर्ण सृष्टि के कर्ता है, किन्तु स्वयं दोष-रहित हैं, उससे अलग रहते हैं, जो किसी मोह-ममता में नही पड़ते, जो सर्वगुणसंपन्न साथ ही सब गुण से परे हैं, जो भक्तवत्सल है, सर्वत्र व्याप्त है, जिनका जीव एक अंश है, जो स्वयं अविद्या से रहित हैं, जिनमे विरुद्ध-अविरुद्ध, सर्वशक्ति और धर्म का समावेश माना गया है आदि, आदि।

निर्घृण—निदित, निर्दय, जिसे गदी वस्तुओ या बुरे कामों से घृणा या लज्जा न हो।

निर्दय हृदय कपाट—कपाट—किवाड़, पट। जिसके हृदय का कपाट किसी के लिए न खुला हो, अर्थात् जो कठोर और दयाहीन हो, जिसका हृदय न पसीजे।

बखेड़िये—बखेड़ा अर्थात् व्यर्थ विस्तार या आडम्बर करनेवाला, झगड़ालू। संसार रूपी बखेड़ा।

क्यों इतनी छाती ठोंक...विश्वास दिया—अर्थात् शरणागत पालक होने की क्यों घोषणा की। पुष्टिमार्ग मे ही नही सर्वत्र भगवान् भक्तों के रक्षक माने गए हैं। गीता मे स्वयं भगवान् ने घोषणा की है।

जहन्नुम में पड़ते—**जहन्नुम**—नरक। आपसे कोई सम्बन्ध न होता। आपके अपने शरण में न लेने से उनका उद्धार ही न होता।

तुर्रा—उस पर भी इतना और, सबके उपरान्त इतना यह भी।

सब धान बाइस पसेरी—जहाँ अच्छे-बुरे, ऊँच-नीच का ख्याल न हो। सब को एक ही दृष्टि से देखना।

उल्लू फँसे हैं—बेवकूफ बने हैं।

चाहे आपके...फँसे हैं—आपके प्रेम मे दुःखी हों या सासारिक विषय-वासना से पीड़ित हों, आप दोनों में से किसी की खबर नहीं लेते। सभी जीव अविद्या आदि दोषों से युक्त हैं।

उपद्रव और जाल—सांसारिक उपद्रव और जाल।

भला क्या काम था...विषमय संसार किया—परब्रह्म श्रीकृष्ण तो आनन्दमात्र हैं, आनन्दस्वरूप हैं, किन्तु उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है।

विषमय—अविद्या आदि दोषों से लिप्त।

बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की—बड़ा कारखाना—संसार। **बेहयाई परले सिरे की**—हद दरजे की बेहयाई। जितना बड़ा कारखाना उतनी ही हद दरजे की बेहयाई। न तो झूठे कहलाने से डरते हो, और न अपना वचन ही पूर्ण करते हो।

नाम बिके—अत्यधिक प्रसिद्ध हों—चाहे झूठे और बेहया ही प्रसिद्ध हों। भगवान् चाहे भक्तों की रक्षा करें या न करे, अपना वचन पूर्ण करें या न करें उनको तो सभी जपते हैं।

झूठा कहें—अर्थात् भक्तों को दिए गए वचन का पालन न करे।

अपने मारे फिरें—भटकते फिरें। भक्ति का सच्चा मार्ग दिखाई न दे।

शुद्ध बेहयाई—जिसमें बेहयाई के सिवाय और कुछ न हो।

लाज को...दिया है—लाज को अपमानित करके बिल्कुल निकाल दिया है, अर्थात् स्वयं निर्लज्ज, बेहया हो।

जिस मुहल्ले में···नहीं जाती—वही निर्लज्जता का भाव है। भगवान् श्रीकृष्ण का मुहल्ला वैकुण्ठ ही हो सकता है।

मत-वाले मतवाले···सिर फोड़ते—**मत-वाले**—विभिन्न धर्मावलम्बी। **मतवाले**—पागल। सब धर्मावलम्बी अपने-अपने ढग से ईश्वर का निरूपण कर आपस में लड़ते है। यदि ईश्वर दिखाई पड जायँ तो झगड़ा क्यो हो। अँधे और हाथीवाली कथा चरितार्थ होती है।

जब ऐसे हो तब ऐसे हो—अर्थात् जब ऐसे निंदनीय हों तब तो हमें मुग्ध कर रखी है। जब निंदनीय न होते तब न जाने क्या करते।

हुकमी बेहया—अचूक, न चूकनेवाले बेहया।

माथा खाली करना—इतना अधिक कहना या बोलना।

हम भी तो···झूठी हैं—चन्द्रावली ने भी लोक-लाज आदि छोड़कर, घरवालों से बचकर, बिना किसी की परवा कर श्रीकृष्ण से प्रीति की है।

जस दूलह तस बनी बराता—जैसे को तैसा साथी।

मूल उपद्रव तुम्हारा है—तुम्हीं इस सृष्टि के मूल कारण हो, अथवा तुम्हारे ही सौन्दर्य ने हमें मुग्ध कर यह उपद्रव खड़ा किया है।

इतना और कोई न कहेगा—जितने वास्तविक गुणो का मैंने बखान किया है उतना कोई और नहीं करेगा।

सिफारिशी नेति-नेति कहेंगे—शास्त्रीय या मर्यादा मार्ग से किसी पद पर पहुँचे हुए लोग तुहारा 'अंत नही है, अंत नही है' कहकर वर्णन करते हैं, सच्चा वास्तविक रूप नही बताते ।

दुःखमय पचड़ा—दुःखमय संसार (पचड़ा, प्रपंच, बखेड़ा) ।

जंगल में मोर नाचा किसने देखा—चुपचाप किए गए काम को कौन जानता है । मेरी मूक पीड़ा को कौन जानता है ।

वह—परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण ।

मेरे अपराधों...अपनी ओर देखो—अर्थात् अपराधों या दोषों या पापकर्मों की ओर न देखकर अपने शरणागत वत्सलता वाले यश की ओर देखो । तुमने न मालूम कितने पापी तारे हैं ।

सौंह—सौगन्ध ।

प्रिया जी—श्रीमतीजी (राधा), ज्येष्ठा नायिका ।

हा हा खाऊँ—मिन्नत करूँ ।

ताँई—तक ।

सल्लाह—सलाह ।

प्यारी जू—श्रीमतीजी (राधा), ज्येष्ठा नायिका ।

घरके न सों याकी सफाई करावै—घरवालों से इसकी निर्दोषता सिद्ध करावे, कलंक का दोषारोपण हटवावे ।

लालजी—श्रीकृष्ण ।

विन्हे—उन्हें ।

जब तक साँसा तब तक आसा—अंत समय तक आशा रखनी चाहिए ।

काहुवै—किसी को भी ।

अनमनोपन—खिन्नता उदासी ।

मेरे तो नेत्र...करते हैं—मेरे नेत्रों के हिंडोरे में श्रीकृष्ण झूला करते है ।

पल पटुली—पलक रूपी पटुली ।

चारु—सुन्दर ।

झुमका—गोल लटकन ।

झालर—लटकता हुआ किनारा ।

झूमि—झूमकर ।

ललित—सुन्दर ।

काम पूरन—काम से पूर्ण ।

उछाह—उत्साह ।

मलार—मलार राग।

झोंटन—पेंग।

घन स्याम—काले बादल। **घनस्याम**—श्रीकृष्ण।

घहरि-घहरि—गरजने का गम्भीर शब्द करना।

इन्द्रधनु—**बनमाल**—तुलसी, कुंद, मदार, परजाता और कमल इन पाँच चीजों से वनमाला बनती है।

बगमाल—**मोतीलर**—सफेद रंग होने के कारण दोनों मे साम्य है।

छहरि-छहरि—छितरा जाती है, चारों ओर फैल जाती है अर्थात् श्रीकृष्ण की शोभा सामने आ जाती है।

फहरि-फहरि—फहरना, वायु में उड़ना।

चौथा अंक

जोगिनी—साधुनी, तपस्विनी।

अलख-अलख—अलख—अगोचर, अप्रत्यक्ष, ईश्वर का एक विशेषण। परमात्मा के नाम पर भिक्षा माँगना, अथवा पुकार कर परमात्मा का स्मरण करना या कराना।

आदेश आदेश गुरु को—गुरु की आज्ञा। गुरु की दुहाई देना।

बंक—टेढ़ी।

छकोंहैं—छके हुए (अपने प्रेम-रस के उन्माद के कारण)।

कोपन—आँख का कोना।

कान छियैं—कान छूते हैं (नेत्रों के बड़े होने का चिह्न है)।

बारि फेरि जल सबहिं पियैं—सब निछावर होते हैं।

नागर मनमथ—चतुर काम देव।

सेली—वह बद्धी या माला जिसे योगी लोग गले मे डालते या सिर मे लपेटते है।

सोहिनियाँ—सुहावनी, शोभा देनेवाली।

मातै—मदमस्त।

बिरह-अगिनियाँ—विरहाग्नि।

चितवन मद अलसाई—मत्तता के कारण नेत्र अलसाए हुए हैं।

गावत बिरह बधाई—विरह का गीत गाती है।

खुमारी—नशा।

खुभना—चुभना, घुसना, धँसना।

ढरारी—बहनेवाली ।

घूँघरवारी—घुँघराली ।

बागे—वस्त्र (वैसे 'जामा' या 'अगे के तरह का पहिनावा') ।

सिराई—शीतल हुई ।

पैंजनी—झन झन बजनेवाला एक गहना जो पैर मे पहना जाता है ।

तरनि-तनूजा—**तरनि**—सूर्य । **तनूजा**—पुत्री । सूर्य की पुत्री अर्थात् यमुना ।

मुकुर—दर्पण ।

प्रनवत—प्रणाम करते हैं ।

आतप-बारन—गर्मी दूर करने के लिए ।

नै रहे—झुके हुए है ।

अमल—स्वच्छ ।

सैवालन—सिवार ।

गोभा—अकुर ।

ढिंग—पास ।

उपचार—विधान, पूजन के अग या विधान जो प्रधानतः सोलह माने जाते हैं ।

भृङ्ग—भौंरा ।

कमला—लक्ष्मी ।

सात्विक अरु अनुराग—**सात्विक**—शृंगार के अतर्गत, सात्विक भाव—स्तभ, स्वेद, रोमाच, कंप, अश्रु आदि जो निसर्ग जात अग विकार है । **अनुराग**—प्रीति, प्रेम ।

बगरे फिरत—फैले हुए हैं ।

सतधा—सौ ओर प्रधावित हो कर, सौ तरह से ।

राका—पूर्णिमा की रात्रि ।

तान तनावति—तनाव तनाती है ।

ओभा—आभा ।

जुड़ावत—शीतल होते हैं ।

इकसी—एकसी ।

लोल—चंचल ।

रास-रमन—रास-क्रीड़ा ।

ता—उसका ।

गवन—गमन, चलना ।

बालगुडी—छोटी गुड्डी (पतंग) ।

अवगाहत—डुब्बी लगाए हुए ।
पच्छ—पच्छ—पक्ष, जुग पच्छ—अँधेरा और उजेला पाख ।
प्रतच्छ—प्रत्यक्ष ।
लुकत—छिप जाता है ।
अविकल—पूर्ण, ज्यों का त्यों ।
तितनो—उतना ।
रजत—चाँदी ।
चकई—चक्र ।
निसिपति—चन्द्रमा ।
मल्ल—पहलवान ।
कलहंस—राजहंस ।
मज्जत—नहाते है ।
पारावत—कबूतर ।
कारंडव—हंस या बत्तख की जाति का एक पक्षी ।
जल-कुक्कुट—जल मुर्गी ।
चक्रवाक—चकवा ।
पाँवड़े—पायदाज, वह कपड़ा या बिछौना जो आदर के लिए किसी के मार्ग में बिछा दिया जाता है ।
रत्नरासि—रत्नों का ढेर ।
कूल—किनारा ।
बगराए—फैलाए, छितराए ।
मुक्त—मोती ।
श्यामनीर—यमुना का जल श्याम होता ।
चिकुरन—बाल ।
सतगुन—सतोगुण । सतोगुण का रंग श्वेत माना जाता है ।
मोट की मोट—गठरी की गठरी ।
बिलमाई—रुकी रहना या ठहरी रहना (किसी भाव के वशीभूत हो) ।
जरदी—पीलापन । दुर्बलता, विरह-पीड़ा ।
छरी सी—छली हुई सी । इसका अर्थ 'छड़ी' भी लिया जा सकता है, अर्थात् छड़ी के समान पतली जो दुर्बलता का चिह्न है ।
छकी सी—छकी हुई सी (प्रेम में) ।
जकी सी—चकपकाई हुई सी ।

जीवति मरी रहै—जीते हुए भी मरी के समान (विरह के कारण)।

मुरछि परी रहै—मूर्च्छित हुई पड़ी रहती है।

बाएँ अंग का फरकना—स्त्रियों के लिए शुभ माना जाता है।

मान न मान मैं तेरा मेहमान—जबर्दस्ती गले पड़ना।

मेरो पिय मोहि बात न पूछै तऊ सोहागिन नाम—जबर्दस्ती किसी परिस्थिति में विश्वास रखना।

अतीतन—यतियो, साधुओं।

गादी—गद्दी।

संसार को जोग तो और ही रकम को है—संसार के जोग (प्रेम) का तो दूसरा ही मूल्य है, अर्थात् लौकिक प्रेम जोगिन के प्रेम से भिन्न है।

पचि मरत—हैरान होते हैं, वृथा बहुत अधिक परिश्रम करते हैं।

धूनी—साधुओं द्वारा अपने सामने लगाई हुई आग।

मुद्रा—साधुओं के पहनने का कर्ण भूषण, छल्ला।

लट—बालों का गुच्छा, केशपाश।

मनका—माला का दाना।

अचल—न टूटनेवाली, अडिग।

असगुन...चढ़ाना—असगुन की मूरति—अपशकुन की मूर्ति, अपशकुन का प्रतीक, राख को शरीर पर कभी न चढ़ाना।

तमोल—पान।

है पंथ...मत जाना—आँखों का लग जाना ही हमारा पंथ है अर्थात् प्रेम-पंथ।

शिवजी से जोगी...सिखाना—यहाँ 'योग' का 'मिलना', 'संयोग' अर्थ है।

जीको बेधे डालता है—हृदय को छेदे डालता है।

चोटल—चोट खाया हुआ, जख्मी।

उपासी—उपासना करनेवाली।

डगर—मार्ग, रास्ता।

कलेजा ऊपर को खिंच आता है—जी घबराया जाता है।

पाहुना—अतिथि।

बहाली बता—बहाना कर।

आस—सहारा।

जो बोले सो घी को जाय—अपनी कही या बताई हुई बात अपने ही सिर पड़ना।

अलख गति···प्यारी की—**अलख**—अगोचर, जो जानी न जा सके। **पिया—प्यारी**—श्रीकृष्ण और चन्द्रावली।

यारी की—प्रेम की।

त्रिभुवन की सब रति गति मति···**त्रिभुवन**—स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल। **रति**—प्रेम। **गति**—मर्यादा। **मति**—बुद्धि। **छबि**—सौन्दर्य।

केहि—किसे।

चितवति चकित मृगी सी—**चितवति**—देखती है। **चकित मृगी सी**—मृगी की भाँति चकित हो।

अकुलाति लखाति ठगी सी—**अकुलाति**—व्याकुल होती है। **लखाति ठगी सी**—ठगी सी दिखाई पड़ती है, जैसे किसी ने कुछ छीन लिया हो।

तन सुधि करु—शरीर का ध्यान कर।

खगी-सी—लिप्त हुई सी, भूली हुई सी।

जकी सी—स्तब्ध सी।

मद पीया—मद पान कर लिया है।

क—अथवा।

भूलि बैखरी—**बैखरी**—वैखरी—वाक्शक्ति। वाक्शक्ति भूलकर, मूक भाव से।

मृगछौनी—मृग की बच्ची।

जले पर नोन—और उत्तेजित करना। एक तो चन्द्रावली वैसे ही विरह-पीड़ित है, उस पर संगीत और साहित्य के योग से वह और भी पीड़ित हो उठती है।

हम अपने···**अनुभव कर रहे हैं**—काव्यगत प्रेम और सौन्दर्य की अपेक्षा चन्द्रावली का प्रेम और सौन्दर्य सुधारस-पान उसका निजी अनुभव है, अतएव अधिक विलक्षण है।

पत—लज्जा।

चबाई—निंदक।

धरिहै उलटो नाऊँ—उलटी बदनामी करेंगे।

सुजान-शिरोमनि—**सुजान**—चतुर, सयाना, सज्जन, प्रेमी। **शिरोमनि**—श्रेष्ठ। 'सुजान' से श्रीकृष्ण का तात्पर्य है।

मरमिन—मर्म जाननेवाली, रहस्य जाननेवालीं।

पटुका—वह वस्त्र जो कमर मे बाँधा जाता है, फेंटा।

नाँधि—बाँध कर।

बाहर···**गर समाधि**—अर्थात् बाहर-भीतर दोनों स्थानों में तुम्हें प्राप्त करूँगी। अन्तर करौंगी समाधि—तुम्हारा ध्यान करते हुए हृदय में समाधि लगा दूँगी, अर्थात् श्रीकृष्ण को हृदय में छिपा लेगी।

लुकाय—छिपा हूँ।

जिन जाहु—मत जाओ।

किन—क्यों न।

लाहु—लाभ।

अमित—अपरिमित, बहुत अधिक।

अनुदिन—प्रतिदिन।

नाखौं—डालूँ, गिराऊँ, मिलाऊँ।

जनमन की—जन्मजन्मान्तर की।

तू तौ मेरी…लीला है—पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के अनुसार है।

युगल के अनुग्रह…किसको है—युगल—कृष्ण और राधा। पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के अनुसार है। चन्द्रावली के इस विशेष सन्दर्भ मे कृष्ण के अतिरिक्त राधा का अनुग्रह भी आवश्यक था, अतएव 'युगल का अनुग्रह' शब्दो का प्रयोग हुआ है।

मैं तो अपुने प्रेमिन…होइ वेई के नहीं—पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के अनुसार है। दे० भूमिका।

सुखेन—सुखपूर्वक।

स्वामिनी…सुखेन पधारौ—स्वामिनी—प्रधान महिषी राधा। नाटिका के लक्षण के अनुसार स्वामिनी की यह आज्ञा आवश्यक थी। इसके बिना श्रीकृष्ण और चन्द्रावली निस्संकोच न मिल सकते थे।

सखी, पीतम तेरो तू…नेत्र सफल करैं—पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तानुसार है। दे० भूमिका।

परिलेख—उल्लेख, वर्णन।

प्रेम की टकसाल—आदर्श प्रेम।

युगल जोड़ी—श्रीकृष्ण और चन्द्रावली।

लहौरी—प्राप्त करोरी।

जुगल रूप—श्रीकृष्ण और चन्द्रावली।

बरु—चाहे।

अघ—पाप, दुःख।

उमहौ री—उभाड़ो, उमगाओ, उत्पन्न करो।

राधा चन्द्रावली…निबहौ री—इन सब नामों का पुष्टिमार्ग में अत्यधिक महत्त्व माना गया है। इन पुण्य नामों का प्रातः उठते ही स्मरण करना चाहिए।

भरत को वाक्य—भरत-वाक्य (दे० भूमिका, 'संक्षिप्त नाट्य-शास्त्र)।

परमारथ—परमार्थ—नाम रूपादि से परे यथार्थ तत्व। इसका 'दूसरों की भलाई, अर्थ भी होता है।

स्वारथ—स्वार्थ—अपनी भलाई, अपना हित।

संग मेलि न सानैं—एक साथ न मिलावें।

आचारज—आचार्य्य।

वृंदाविपिन—वृंदावन।

थिर होई—स्थिर हो, दृढ़ हो।

जन वल्लभी—वल्लभ सप्रदाय का अनुयायी।

जगजाल—संसार का बन्धन।

अधिकार—पहले कहा जा चुका है श्रीकृष्ण की भक्ति उसीको प्राप्त होती है जिसे अधिकार है। यह अधिकार श्रीकृष्ण के अनुग्रह से मिलता है। दे० भूमिका।

रतन-दीप—रत्न-दीप। रत्न-दीप इसलिए कहा है ताकि वह सदा जगमगाता रहे, कभी बुझे नहीं, राग-द्वेष, माया-मोह, दंभ आदि की आँधी भी उसे न बुझा सके। भरत वाक्य से भी भारतेन्दु के वल्लभ कुल के वैष्णव होने का पता चलता है।